प्राच्यदर्शनप्रदीपान्तर्गत

न्यायप्रकाश

रचयिता

महामहोपाध्याय गंगानाथ झा एम० ए०, डी० लिट्०,

प्रिंसिपल, संस्कृत कालेज, बनारस।
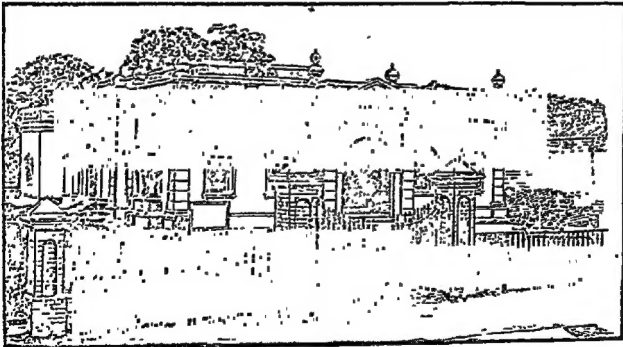
काशीनागरीप्रचारिणी सभा द्वारा

प्रकाशित

श्री

प्राच्यदर्शनप्रदीप

भूमिका

११ फरवरी १९०८ नं० २३१०/९६ पत्रद्वारा नागरीप्रचारिणी सभाने प्राच्यदर्शननिरूपणपर एक ग्रन्थ रचना करने की आज्ञा दी इस आज्ञाके अनुसार मैंनें न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के सम्बंध में कुछ लिख कर सभाके कार्यालय में भेज दिया। वेदान्तादि भारतीय दर्शन तथा एशिया के देशान्तरों के दर्शनोंके प्रसङ्ग भी बहुत कुछ विषय संगृहीत कर लिया। परन्तु समस्त ग्रन्थ २००-२५० पृष्ठका होना चाहिये ऐसी सभाकी आज्ञाथी—और न्याय वैशेषिक निरूपणाहीं में प्रायः इतने पृष्ठ पूरे होगये ऐसा देख कर क्या कर्तव्य है सो सभासे फिर पूछा तो (नं १५०७/५६, ता० २२। १२। १९१६) उत्तर मिला कि--"आपनें जितना लिखा है उतना छप जाना चाहिये......यदि अवसरमिला तो वेदान्तसम्बन्धी लेख आप फिर लिख दीजियेगा।"

इन्हीं कारणोंसे इस प्राच्यदर्शनप्रदीपनामक ग्रन्थका केवल न्याय-वैशेषिक प्रकाश लिखेगये और अनेक विघ्नोंके अनन्तर अब छपकर सज्जनों के सामने उपस्थित हैं॥

मुझे हिन्दी लिखने का अभ्यास नहीं। इससे मेरी टूटी फूटी हिन्दीको देखकर एक आध हिन्दीमण्डल के दिग्गजों ने लिख भेजा—"आपकी भाषा रोचक नहीं होती इससे अच्छा होता यदि आप अपने लेखों को किसी योग्य हिन्दीलेखक को दिखा लेते"।

यद्यपि इस शिक्षाके लिये मैं कृतज्ञ हुआ तथापि इसका अनुसरण करना उचित नहीं समझा गया। क्योंकि विषय मेरा तब भाषा भी मेरी ही होनी चाहिये। दूसरेकी लिखी हुई को अपनी कह कर प्रकाश करना अनुचित सा ज्ञात हुआ। यदि मुझमें दोष है मेरी भाषा रोचक नहीं है—विषयभी यदि मुझे अशुद्धही अवगत हैं तो इन सभों का भागी मुझे होना ही उचित है॥

इसी कारण जो कुछ दोष वा गुण विषयसम्बन्धी वा भाषासम्बन्धी इस ग्रन्थमें पाये जांय सबके भागी हमहीं हैं। दूसरों के ऊपर कोईभी भार नहीं दिया गया।

केवल प्राचीन ग्रन्थों के संग्रह में मेरे परम मित्र बाबू गोविन्द दास जी मुझे सदा सहायता देते आये हैं इसके लिये मैं हृदय से कृतज्ञ हूं॥

इतना कहकर मैं इस ग्रन्थ को उन महापुरुषोंके चरणों पर अर्पित करता हूं जिनका हीं मैं हूं और मेरा सब कुछ है—

पित्रोस्तीर्थलतातीर्थनाथयोःपादयोरिदम्।
भ्रातुःश्रीविन्ध्यनाथस्यार्पितंलक्ष्मीश्वरस्यच॥

संस्कृतकालेज, बनारस
कोजागरा, १९७७

गङ्गानाथ झा

न्याय प्रकाश।

———:o:———

न्याय दर्शन के प्रथम प्रवर्तक सूत्रकार गौतम हैं। यह 'अक्षपाद' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इस नाम का मूल पंडितों में ऐसा प्रसिद्ध है:—

मिथिला देश में जो स्थान अब दरभंगा शहर के नाम से प्रसिद्ध है वहां से दस कोश उत्तर-पश्चिम की तरफ़ गौतम ऋषि रहते थे वह लड़कपन ही से हर दम विचार में मग्न रहा करते थे। उस समय और कुछ भी उन्हें नहीं सूझता था। एक दिन ऐसे ही मनन करते करते वह सामने कुएं को न देख सके, और उसमें गिर पड़े। बहुत मुश्किल से गांव के आदमियों ने उनको वहां से निकाला। यह देख कर ईश्वर की दया आई और उन्हों ने गौतम को एक आंख (अक्ष), पैर (पाद) में भी दे दी जिससे कि वे मनन करने के समय भी रास्ता देख सकें। तभी से ये 'अक्षपाद' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

गौतम के सूत्र 'न्यायसूत्र,' 'गौतमसूत्र' इन नामों से अब तक प्रसिद्ध हैं। इन सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि ने भाष्य लिखा। इस भाष्य पर उद्योतकर (पक्षिल स्वामी) ने वार्तिक लिखा। इस वार्तिक की व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका के नाम से लिखी। इसकी टीका उदयनाचार्य कृत तात्पर्यपरिशुद्धि है। इस परिशुद्धि पर वर्धमान उपाध्याय कृत प्रकाश है।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह-स्थान, इन सोलहों पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से पुरुष का अभीष्ट जो मोक्ष उसकी प्राप्ति होती है, यही गौतम का प्रथम प्रतिज्ञासूत्र है। इस स्वरूप की प्रतिज्ञा कुछ बेसिर पैर की मालूम पड़ती है। इसी

से कुछ लोगों ने न्यायदर्शन पर असम्बद्धप्रलापिता का दोष लगाया है। किन्तु आगे चलकर सोलहों पदार्थों से क्या अर्थ है इसका निरूपण करने के उपरान्त कैसे सम्बद्ध और एक दूसरे से गठे हुए ये सूत्र हैं सो विचार किया जायगा।

(१) 'उद्देश'—नाम कहना, (२) 'लक्षण'–किस पदार्थ का क्या चिह्न है जिससे वह पहचाना जा सकता है इसका निरूपण और (३) 'परीक्षा'—जो चिह्न बतलाया गया सो इस पदार्थ में है वा नहीं यह विचार,—ये तीन बातें जब तक न की जायं तब तक किसी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इससे इसी तीनों क्रम से उक्त सोलहो पदार्थों का अलग अलग विचार शास्त्रकारों ने किया है।

प्रत्येक पदार्थ का विचार आरम्भ करने के पहिले इसका विचार करलेना उचित होगा कि गौतम ने इन सोलहों पदार्थों ही को क्यों मुख्य माना है।

अपना ग्रंथ लिखने से पहिले गौतम ने यह समझा कि विषय के यथार्थ स्वरूप निरूपण करने का सब से उत्तम ढंग यह है कि दो आदमियों को वादी और प्रतिवादी कल्पना करके एक तीसरे मध्यस्थ के आगे दोनों पक्षों को उपपादन करा कर फिर उस कल्पित मध्यस्थ के द्वारा यथार्थ तत्त्व का निर्णय कराया जाय। इसी मतलब से ये सोलहो पदार्थ इस क्रम से उद्दिष्ट लक्षित और परीक्षित हुए हैं। इस क्रम पर बहुतेरों ने आक्षेप किया है। परन्तु जिस मतलब से यह ग्रन्थ रचा गया वह मतलब बिना इस क्रम के पूरा न होता। (१) किसी विषय में जब दो आदमियों में विवाद उपस्थित होता है तब वाद आरम्भ होने के पहिले इसका निर्णय आवश्यक होता है कि इस वाद में कौन कौन प्रमाण दोनों वादियों से माने जायंगे। इससे सब से पहिले 'प्रमाण' पदार्थ का निरूपण आवश्यक है। (२) इसके अनन्तर किन किन विषयों पर मतभेद है जिन पर वाद प्रतिवाद होगा यह निश्चय करना आवश्यक होगा। इसी को सूत्र में 'प्रमेय' पद से कहा है। (३) विषयों के सूचित होने के अनन्तर मध्यस्थ

के चित्त में सन्देह उत्पन्न होगा कि इन विषयों का असल स्वरूप क्या है। इसी सन्देह को सूत्र में 'संशय' पद से कहा है। (४) सन्देह के उपरान्त फिर मध्यस्थ के चित्त में यह विचार उपस्थित होता है कि इन विषयों पर विचार करने से क्या मतलब, इस विचार से क्या फल होगा। इसी को सूत्र में 'प्रयोजन' पद से कहा है। (५) विचार का प्रयोजन दिखलाने के लिये दो आदमियों में से एक आकर प्रयोजन बतलाता हुआ अपना जो पक्ष सन्दिग्ध विषयों पर है उस को दृष्टांत दिखलाकर बतलाता है। यही 'दृष्टान्त' पांचवाँ पदार्थ सूत्र में कहा गया है। (६) जिस पक्ष को वादी ने पुष्ट कर के बतलाया उसी को उसने अपना 'सिद्धान्त' माना। यही छठवां पदार्थ सूत्र में कहा गया है (७) वादी का पक्ष सूचित होने पर प्रतिवादी सामने आकर उसके पक्ष के साधन में जो कुछ युक्तियाँ कही गईं उनका विचार करता हुआ उनके खंड खंड की विवेचना आरम्भ करता है। उन युक्तियों में क्या क्या बात कही गई और क्या क्या मानी गई इसका स्पष्ट रूप से विभाग करता है और इनका खंडन करता है। इन्हीं युक्ति के खंडों को 'अवयव' पद से कहा है। (८) अपनी युक्तियों को खंडित देख कर वादी फिर और युक्तियां बतलाता है जिन से प्रतिवादी की बतलाई हुई युक्तियों का उत्तर हो जाय। इसी को 'तर्क' कहा है। (९) तर्क द्वारा जो अपना पक्ष स्थिर किया जाय वही 'निर्णय' हुआ। (१०) प्रतिवादी इतने से सन्तुष्ट न होकर मध्यस्थ से प्रार्थना करता है कि तत्त्व-निर्णय करने के लिये शास्त्रार्थ की आवश्यकता है। इसी शास्त्रार्थ को सूत्र में 'वाद' पद से कहा है। (११) शास्त्रार्थ आरम्भ होने पर यदि प्रतिवादी यथार्थ में तत्त्वनिर्णय ही करना चाहता होगा तो कुछ काल तक उत्तर प्रत्युत्तर रूप से शास्त्रार्थ होने पर सत्य पक्ष को मान लेगा। पर यदि केवल अपनी चतुराई को दिखलाना और वादी को हरा देना यही उसका दुष्ट मतलब होगा तो वह किसी तरह अपनी हार न मान कर उत्तर प्रत्युत्तर करता ही रहेगा। इसी दुष्ट शास्त्रार्थ को 'जल्प' कहते हैं (१२)। जब तक कुछ अच्छी अच्छी युक्तियां मिलती जायंगी तब तक तो ठीक ही है। पर

कुछ काल के अनन्तर वह केवल ऊटपटांग बकना प्रारम्भ करेगा। इसी को 'वितण्डा' कहते हैं (१३)। इस वितण्डा में जितनी युक्तियां वह कहेगा वे सब या तो सरासर अशुद्ध ही होंगी जिन को 'हेत्वाभास' पद से कहा है (१४)। अथवा जान बूझ कर अंड बंड होंगी जिनको 'छल' पद से कहा है (१५)। ऐसे अंड बंड बकने में वह परस्पर विरुद्ध और अशुद्ध बातें बकेगा जिस से लोगों को यह मालूम होने लगेगा की उसकी हार हुई। इसी को 'जाति' पद से कहा है। (१६) इस अवस्था में सभा के सब लोगों को यह निश्चय मालूम होगा कि प्रतिवादी का पक्ष अशुद्ध और वादी का पक्ष शुद्ध है। तब मध्यस्थ प्रतिवादी को आगे बकने से रोक देता है। इसी रोकने को 'निग्रह' कहते हैं और इसी अवस्था को 'निग्रह स्थान' पद से सूत्र में कहा है।

अब हम लोग समझ सकते हैं कि किस कारण से गौतम ने अपने सूत्रों में इस क्रम का ग्रहण किया है।

प्रथम पदार्थ–प्रमाण।

सब पदार्थों का 'उद्देश' तो पहिले ही सूत्र में किया गया। अब क्रम से सबों के 'लक्षण' कहे जायंगे और उनकी 'परीक्षा' की जायगी।

पहिला पदार्थ है 'प्रमाण'

'प्रमा' –यथार्थ ज्ञान–का जो 'करण' मुख्य हेतु-उसी को प्रमाण कहते हैं। जैसे काटने के काम में फरसा 'हेतु' या हथियार होता है इसी तरह जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो उसी को उसका करण कहते हैं। वही करण 'प्रमाण' है।

यद्यपि ज्ञानों के उत्पन्न होने में बहुतेरे कारणों का व्यापार होता है परन्तु ज्ञान उत्पन्न करने में जिस कारण का व्यापार सब

से अधिक अपेक्षित हो, जिस के विना जो ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सके, वही उसका 'साधकतम' 'उत्कृष्ट-साधन' हुआ । और वही उस ज्ञान का 'प्रमाण' कहलाता है । जैसे किसी वस्तु के देखने में यद्यपि उस वस्तु के रंग, रोशनी इत्यादि सभी अपेक्षित होते हैं तथापि आँख ही एक ऐसी वस्तु है जिसके विना वस्तु का देखना कभी सम्भव नहीं। इस से आँख ही देखने का 'करण' कहला सकती है।

प्रमा—यथार्थ ज्ञान

उसी ज्ञान को कहते हैं जो न तो संशय रूप का हो और न एक दम मिथ्या ही हो और जो न स्मरणरूप हो । जब कोई पेड़ को देखता है और समझता है कि 'मैंने पेड़ को देखा' तब उसका ज्ञान प्रमा हुआ । पर यदि पेड़ को देख कर वह समझे कि 'मैं एक भूत देख रहा हूँ' तो उसका ज्ञान एक दम मिथ्या हुआ । इसी को 'विपर्यय' ज्ञान भी कहा है । फिर यदि पेड़ को देख कर उसके मन में ऐसा ध्यान हो कि क्या मैं पेड़ देख रहा हूं, या भूत' तो उसका ज्ञान 'संशय' हुआ । आज एक पेड़ को देखा फिर दस दिन के बाद यदि किसी कारण से उसके विना देखे फिर वह वृक्ष चित्त में आ जाय तो यह ज्ञान 'स्मरण' हुआ ।

कोई एक ज्ञान यथार्थ है या नहीं यह हम कैसे जान सकते हैं—जब तक हम यह नहीं जानेंगे तब तक प्रमाण क्या है यह कैसे समझ सकते हैं । इस विषय में बड़ा मतभेद पाया जाता है । मीमांसकों ने माना है कि जितने ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे अपने आप यथार्थ ही उत्पन्न होते हैं। खाली पीछे से जब हम यह देखते हैं कि ज्ञान मिथ्या है तो भी यह दोष ज्ञान का नहीं होता पर उसके विषय ही में होता है । जिस विषय को जैसा हमने समझा था वैसा वह नहीं है । या उस ज्ञान के उपाय ही का दोष हमें मालूम पड़ता है । जिस इन्द्रिय से या जिस अनुमान से या जिन शब्दों से हमको ज्ञान हुआ था वे शुद्ध नहीं थे । ज्ञान में किसी तरह का दोष कभी नहीं होता । नैयायिकों का ऐसा मत नहीं है । उनके मत

से ज्ञान जिन कारणों से उत्पन्न होता है वे जब निर्दुष्ट पाये जाते हैं तभी ज्ञान प्रमा है, ऐसा निश्चय होता है। इसी तरह उन कारणों में जब दोष पाया जाता है तब वे अप्रमा माने जाते हैं। इस विषय का पूरी तरह से विचार न्यायमंजरी (पृ० १६०) में किया गया है। न्यायमत से दोष ज्ञान ही में है, अर्थ में नहीं। घोड़ा तो घोड़ा ही रहता है। खाली मेरे ज्ञान में गलती होती है। वार्तिक पृष्ठ ३६)

ज्ञान का प्रथमतः दो अंशों में विभाग होता है। (१) अनुभव, जो किसी वस्तु का साक्षात् ज्ञान हो। और (२) स्मरण, जो ज्ञान कोई दूसरे ज्ञान के द्वारा उत्पन्न हो। स्मरण के कारण सूत्र ३।२।४३ में पच्चीस गिनाये गये हैं। फिर अनुभव को तीन प्रकार का माना है (१) प्रमा (२) विपर्यय (३) संशय।

जब हम घोड़े को घोड़ा समझते है तब हमारा ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है। अर्थात् जो वस्तु जो है और जैसी है उसको जब हम वही वस्तु या वैसीही समझे तब हमारा ज्ञान प्रमा हुआ। पर घोड़े को यदि हमने गदहा समझा। अर्थात् जो वस्तु जो नहीं है या जैसी नहीं है उसको वह या वैसा जब मैंने समझा तो मेरा ज्ञान अप्रमा या 'विपर्यय' हुआ। विपर्यय ज्ञान के स्वरूप में भिन्न दर्शनों में बड़ा मतभेद है। इसका विचार न्यायमंजरी (पृ० १८०-८८) में किया गया है। जब 'यह घोड़ा है या गदहा' यह मुझको निश्चय नहीं होता, कुछ चिह्न मुझे घोड़े के से मालूम पड़ते और कुछ गदहे के से, तो मेरा ज्ञान 'संशय' कहलाता है।

'करण' को प्रधान कारण कहा है। इसी प्रसंग में कारण क्या है और के तरह का होता है इसका विचार भी यहां आवश्यक है। जब कोई कार्य उत्पन्न होता है तब उसके पहिले जिस दूसरी वस्तु का रहना आवश्यक होगा और जो वस्तु केवल उस कार्य को छोड़ कर किसी दूसरे कार्य के उत्पन्न करने में न लगी होगी उसी को उस कार्य का 'कारण' कहेंगे। जैसे कपड़ा जब जब उत्पन्न होगा तब तब उसके पहिले सूत अवश्य रहेंगे। इसलिये सूत कपड़े का कारण हुआ। परन्तु उन्हीं सूतों की लम्बाई या लाल रंग इत्यादि गुण उस

कपड़े के कारण नहीं होंगे। क्योंकि सूत का रंग वा लम्बाई कपड़े के रंग वा लम्बाई को उत्पन्न करता है, कपड़े को नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु के उत्पन्न होने में जिस वस्तु की आवश्यकता हो, जिसके विना कभी वह वस्तु उत्पन्न ही न हो सके वही उसका 'कारण' हुआ। और जो वस्तु जिसके अनन्तर अवश्य हो, और जो जिसके विना नहीं हो सके वही उसका 'कार्य' हुआ।

कारण तीन प्रकार का होता है (१) समवायि कारण-(२) असमवायि कारण-(३) और निमित्त कारण।

(१) जिस कारण में कार्य 'समवेत' रहता है अर्थात् जिस में, जिसके भीतर, जिससे मिला हुआ, जिस का रूपान्तर होकर, कार्य उत्पन्न होता है और रहता है वही उसका 'समवायि कारण' है। जैसे कुंडल के लिये सोना अथवा कपड़े के लिये सूत। सोने ही के भीतर, उसी से मिला हुआ, उसी के रूपान्तर होने से कुंडल उत्पन्न होता है। इस से सोना कुंडल का समवायि कारण हुआ। समवायि कारण का कार्य से नित्य सम्बन्ध रहता है। जब तक कुंडल रहेगा तब तक सोने से उसका सम्बन्ध नहीं छूटेगा। इसी नित्य सम्बन्ध का नाम वैशेषिकों के यहां समवाय सम्बन्ध 'अयुतसिद्धि' इत्यादि पारिभाषिक शब्दों से कहा जाता है।

(२) किसी कार्य के उत्पन्न होने के समय जो वस्तु उसके समवायि कारण से सम्बद्ध हो और जिसका व्यापार उस कार्य के उत्पन्न होने में साफ मालूम पड़े वही उस कार्य का 'असमवायि कारण' कहलाता है। कार्य के उत्पन्न होने में उसका व्यापार आवश्यक होता है, इस से वह 'कारण' अवश्य हुआ। पर वह कार्य उसी वस्तु में नहीं उत्पन्न होता इस से 'असमवायी' कहलाया। जैसे कपड़े में जो सूत रहते हैं उन सूतों का एक दूसरे के साथ जो संयोग (मिलना) है उसके विना कपड़ा नहीं उत्पन्न हो सकता। इससे सूत्रसंयोग कपड़ों का कारण अवश्य होगा। पर वह कपड़ा उस संयोग में नहीं उत्पन्न होता है जिस तरह वह सूतों में उत्पन्न होता है। इसी से वह 'असमवायी' हुआ।

(३) जिस वस्तु का व्यापार कार्य के उत्पन्न होने में आवश्यक

हो, पर वह न समवायि कारण और न असमवायिकारण हो, तो उसी को 'निमित्त कारण' कहते हैं। जैसे कुंडल सोनार के व्यापार के विना नहीं उत्पन्न हो सकता। पर सोनार कुंडल का न तो 'समवायि कारण' है और न 'असमवायि कारण'। इन दोनों कारणों के जो लक्षण कहे गये हैं वे सोनार में नहीं पाये जाते। इस से सोनार कुंडल का 'निमित्त कारण' कहलाता है।

अब यह विचार उपस्थित होता है कि प्रमा के किस तरह के कारण को 'प्रमाण' कहते हैं। प्रमा का 'समवायि' कारण है आत्मा। उसका असमवायिकारण आत्मा-मन-इन्द्रिय का संयोग है। जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह उस ज्ञान का 'निमित्त कारण' है। इन में से आत्मा-मन-इन्द्रिय के संयोग ही को प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति 'प्रमा का करण' वा 'प्रमाण' माना है। क्यों कि वस्तु वा आत्मा के रहते भी जब तक वह संयोग नहीं होता तब तक ज्ञान कभी नहीं उत्पन्न होता।

ज्ञान के कारण को 'प्रमाण' कहा है। जिन सामग्रियों से किसी वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है—जैसे कि प्रत्यक्षादि प्रमाण निरूपण में वर्णित होंगे—उनको प्रमाण कहा है। पर बहुतेरे ग्रन्थों में वस्तु के ज्ञान को भी 'प्रमाण' कहा है। पर इस पक्ष में भी ज्ञानही का कारण 'प्रमाण' होता है। जब सामग्री को 'प्रमाण' मानते हैं तब उस करण का फल उस वस्तु का ज्ञान होता है और जब उस वस्तु के ज्ञान को 'प्रमाण' मानते हैं तब यह चीज अच्छी है, रखने योग्य है, यह चीज बुरी है, फेंकने योग्य है-इत्यादि ज्ञान फल होता है। दोनों पक्षों में ज्ञानही फल और ज्ञान का कारणही प्रमाण है। प्रत्यक्षादि के लक्षण में गौतम ने इन्द्रियसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा है। जिससे यह स्पष्ट है कि इन के मत से ज्ञान ही 'प्रमाण' है।

गौतम ने तीसरे सूत्र में चार प्रमाण माने हैं।

"प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि"। (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान-(४) शब्द—ये चार प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष ।

" इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम."—ऐसा प्रत्यक्ष का स्वरूप गौतम ने कहा है । किसी चीज का सम्बन्ध जब किसी इन्द्रिय से होता है तब इस सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं । लेकिन 'यह किताब है' ऐसा जो शब्दों से ज्ञान का स्वरूप कहा जाता है सो ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है । इसी से प्रत्यक्ष को सूत्र में 'अव्यपदेश्य' बतलाया है । और जैसी वह चीज़ असल में है वैसीही इस ज्ञान से मानी जानी चाहिये। इससे इस ज्ञान को 'अव्यभिचारी' कहा है । फिर यह ज्ञान संदिग्ध नहीं होता । यही सूत्र में 'व्यवसायात्मक' पद से कहा है । जिनके मत से इस ज्ञान का कारण ही प्रमाण है उनके मत से इन्द्रिय 'प्रत्यक्ष प्रमाण' हुआ और ज्ञान जो उत्पन्न हुआ सो 'प्रत्यक्ष ज्ञान' हुआ । प्राचीन मत के अनुसार इन्द्रिय-सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष प्रमाण' हुआ । सूत्र में जो 'अव्यपदेश्य' पद है इससे साफ़ मालूम होता है कि वस्तुमात्र का जो ज्ञान निर्विकल्पक होता है वही 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है । और 'यह चीज लेने लायक है या फेकने के लायक है,' इस तरह का ज्ञान 'प्रत्यक्ष ज्ञान' है । नवीन ग्रन्थकारों ने दोनों मत को मानकर ऐसा कहा है कि भिन्न भिन्न अवस्थाओं में (१) इन्द्रिय (२) इन्द्रिय का सम्बन्ध (३) इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान, ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण अर्थात् 'प्रत्यक्ष प्रमाण' होते हैं । जब इन्द्रिय करण है तब उसका फल अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान वह ज्ञान होगा जो कि पहिले पहिल चीज के सामने आने से होता है । जैसे कि 'यह कोई चीज मेरे सामने है,' इस ज्ञान को 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहते हैं । कुछ देर के बाद उसी चीज का ज्ञान ऐसा उत्पन्न होता है जैसे 'यह चीज जो मेरे सामने है वह एक किताब है' । इस ज्ञान को 'सविकल्पक ज्ञान' कहते हैं । जब यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ तब इस ज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण 'इन्द्रिय का सम्बन्ध' है । और जब इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान करण होता है तब 'यह चीज़ लेने लायक या फेकने लायक है,' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ ।

इन मतमतान्तरों से यह मालूम होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का रूप ऐसा होता है । जब कोई किताब मेरी आंखों के सामने आती है तब जब तक मेरी नज़र अच्छी तरह उस किताब पर नहीं पड़ती तब तक यही ज्ञान होता है कि यह कोई एक वस्तु है । वह वस्तु क्या है, उसका नाम या गुण क्या है, सो सब कुछ भी उस समय मालूम नहीं होता । इस ज्ञान को 'निर्विकल्पक ज्ञान' कहते हैं । इसका करण इन्द्रिय मात्र है । और इस करण से जो निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें इन्द्रिय के सामने उस किताब का आना भी आवश्यक होता है । जैसे फरसे से लकड़ी काटने में फरसा करण होता है और फरसे का लकड़ी पर गिरना आवश्यक होता है । फिर जब आंख उस किताब पर अच्छी तरह पड़ती है तब 'यह वस्तु जो मैं देख रहा हूं वह एक किताब है, इसका रंग लाल है, इसमें सोनहरे अक्षरों से इसका नाम लिखा है, इस किताब में काले काले अक्षर लिखे हैं' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं । इस ज्ञान को 'सविकल्पक' कहते हैं । इसका करण इन्द्रियसम्बन्ध है । इन्द्रियसम्बन्ध से जो सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें बीच में निर्विकल्पक ज्ञान का होना आवश्यक होता है । कुछ देर और देखने के बाद यह मालूम पड़ता है कि 'यह किताब रखने और पढ़ने के योग्य है—' वा 'यह बुरी है यह फेंकने के लायक है ।' इस ज्ञान को ' 'हानादिबुद्धि' कहते हैं । इस ज्ञान का करण, 'प्रत्यक्ष प्रमाण' आगे का निर्विकल्पक ज्ञान होता है । और इन दोनों के बीच में सविकल्पक ज्ञान आवश्यक होता है ।

जितने ज्ञान होते हैं सब आत्मा में उत्पन्न होते हैं । आत्मा के बिना कोई ज्ञान नहीं हो सकता । इसी तरह मन के बिना कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता । सब तरह के ज्ञान में आत्मा और मन का संयोग आवश्यक है । इस से प्रत्यक्ष ज्ञान में- (१) वस्तु से इन्द्रिय का सम्बन्ध (२) इन्द्रिय से मन का सम्बन्ध (३) मन से आत्मा का सम्बन्ध-इतने सम्बन्ध आवश्यक होते हैं ।

इन्द्रिय के जिस सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है वह छ प्रकार का होता है । (१) संयोग—जिस हालत में इन्द्रिय का

उस चीज से मामूली सम्बन्ध रहता है। जैसे जब किताब आंखों के सामने आई तब जो आखों का उस किताब से सम्बन्ध है।

(२) संयुक्तसमवाय। जो चीज आखों के सामने आई उसमें कोई ऐसा गुण हो जो उसमें हर दम रहता हो, उस गुण के बिना वह चीज कभी रहही नहीं सकती यह गुण जो आखों से देखा जाता है उस गुण के साथ आंखों का जो सम्बन्ध है वह 'संयुक्त समवाय' कहलाता है। अर्थात् जब आंखों के सामने आई किताब की सूरत रंग इत्यादि हम देखते हैं, आंखों से किताब का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है, इससे किताब आंखों से 'संयुक्त' हुई। फिर किताब का रंग एक ऐसा गुण है कि जब तक वह किताब है तब तक उसका वह रंग भी उसके साथ है इससे इन दोनों का सम्बन्ध नित्य है, इसी 'नित्य संबंध' को 'समवाय' कहते हैं। इससे किताब के रंग का आंखों से जो सम्बन्ध है वह संयुक्त समवाय' हुआ।

(३) संयुक्त समवेत समवाय—नैयायिकों के मत से जितनी चीजें एक तरह की हैं वे सब मिलकर एक 'जाति' कहलाती हैं। जैसे जितनी किताबें हैं वे सब 'किताब' जाति की हैं। जितने रंग हैं वे सब 'रंग' जाति के हैं। और सब चीजों में उनकी जाति हरदम साथही लगी रहती है। 'रंग' जाति से जुदा कभी रंग नहीं रह सकता। इससे 'रंग' जाति हर एक रंग में 'समवेत' 'नित्य सम्बद्ध' हुआ। इससे जब किताब सामने आई तब उसका रंग देखा। फिर जो मैं देख रहा हूं सो 'रंग' है, यह 'रंग' जाति का है, यह जो आंखों से देखा गया इसमें 'रंग' जाति का आंखों से सम्बन्ध 'संयुक्त समवेत समवाय' हुआ। आंखों से 'संयुक्त' है किताब, किताब में 'समवेत' है रंग, और रंग में समवाय सम्बन्ध है 'रंग' जाति का।

(४) समवाय। जब इन्द्रिय और जिस चीज का ज्ञान होता है उसका ऐसा सम्बन्ध हो कि दोनों कभी जुदे न होते हों तब दोनों का सम्बन्ध नित्य है। जैसे जब कान से शब्द सुना जाता है। नैयायिकों के मत में कान के भीतर जो आकाश है वही 'कान

इन्द्रिय ' है, उसी से शब्द सुना जाता है। और फिर उनके मत में शब्द आकाशही का नित्य गुण है। इससे शब्द और आकाश का सम्बन्ध नित्य है। जब आकाशरूपी कान से शब्द सुना जाता है तब इन दोनों में सम्बन्ध ' समवाय ' ही हुआ।

(५) समवेत समवाय। ' यह शब्द जिसे मैं सुन रहा हूं वह शब्द जाति का है ' यह ज्ञान जब ' कान ' इन्द्रिय से होता है उसमें कान और ' शब्द ' जाति का सम्बन्ध ' समवेत समवाय ' हुआ। कान में समवेत है शब्द, शब्द में समवेत ' शब्द ' जाति।

(६) संयुक्त विशेषणता। ' इस टेबुल पर किताब नहीं है ' इस तरह जो टेबुल पर किताब का नहीं होना देख पड़ता है सो वहां पर किताब का ' अभाव ' अर्थात् ' नहीं होना ' देखा गया। वहां अभावही देखा गया ऐसा नैयायिक मानते हैं। यहां पर ' अभाव ' टेबुल का ' विशेषण ' हुआ, और टेबुल अभाव से ' संयुक्त ' हुआ, इससे ' अभाव ' का आंखों से सम्बन्ध ' संयुक्त विशेषणता ' हुआ। कई ग्रन्थों में इस सम्बन्ध को विशेषणवि-शेष्यभाव कहा है। पर विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध अभाव का टेबुल के साथ हुआ। ऐसाही इन ग्रंथों में कहा भी है (तर्क भाषा पृ० ३२)। फिर सम्बन्ध का ' इन्द्रियसन्नि कर्ष ' इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध ' कहना ठीक नहीं मालूम पड़ा इससे यहां पर इस छठवें सम्बन्ध का नाम ' संयुक्त विशेषणता ' कहा है. । तर्क भाषाही में कुछ पंक्ति आगे चलकर इस सम्बन्ध को ' सम्बद्ध विशेषण विशेष्य भाव ' कहा है।

इन्द्रिय के संयोग से वस्तु का ज्ञान होता है। यह किस तरह से होता है इस विषय में कुछ मत भेद पाया जाता है। जब मुझको किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ' जब मैं किताब को छूता हूं, तब मेरा इन्द्रिय (हाथ) उस किताब पर पड़ता है तब वह किताब छुई जाती है। इसी तरह जब मैं उस किताब को आंखों से देखता हूं तब आंखों की ज्योति निकल कर किताब पर पड़ती है। इसी तरह जब मैं शब्द सुनता हूं तब श्रवणेन्द्रिय (कान से) निकल कर उस शब्द पर पड़ता है। अर्थात् तब इन्द्रिय ' प्राप्यकारी ' होते हैं। ऐसा मत कुछ लोगों का

है। कुछ और लोग कहते हैं कि और इन्द्रियों में इन्द्रिय बाहर जाकर पड़ता है, पर आंख और कान में ऐसा नहीं होता। अर्थात् ये दो इन्द्रिय 'अप्राप्यकारी' हैं। सब इन्द्रिय 'प्राप्यकारी' हैं ऐसा नैयायिकों का मत है (वार्तिक पृ० ३७)। इनका कहना है कि यदि इन्द्रियों का विषयों पर पड़ना आवश्यक न होता तो हमारे नजदीक जितनी चीजे हैं उन सभों को हम देख सकते।

अनुमान।

द्वितीय प्रमाण है अनुमान। इस का लक्षण गौतम सूत्र में 'तत्पूर्वक' अर्थात् 'प्रत्यक्ष पूर्वक' इतनाही कहा है। इस के व्याख्यान में भाष्य में कहा है—'लिङ्ग लिङ्गि इन दोनों का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है इन प्रत्यक्ष ज्ञानों से उत्पन्न जो ज्ञान उसी को 'अनुमान' ज्ञान कहते हैं। जैसे प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष ज्ञान को तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण दोनों को प्रत्यक्ष कहते हैं उसी तरह यहां भी लिङ्ग का प्रत्यक्ष ज्ञान और लिङ्गि का प्रत्यक्ष ज्ञान इनदोनों से उत्पन्न जो ज्ञान उस को भी अनुमान कहा है— (इसको 'अनुमिति' भी कहते हैं)— और उक्त दोनों प्रत्यक्ष ज्ञानों का साथ मिलकर जो एक ज्ञान होता है, जिस मिले हुए ज्ञान से अनुमिति ज्ञान होता है उस को भी 'अनुमान कहा है॥

हम अपने दिन दिन के काम में ऐसा पाते हैं कि जहां जहां हम धूआं देखते हैं वहां वहां आग ज़रूर पाते हैं। इस तरह धूआं और आग का हरदम साथ रहना जब हमने ठीक ठीक समझ लिया तो धूएं को आग का 'लिङ्ग' अर्थात् चिह्न कहा। इस के बाद जब हमने फिर कहीं धूआं निकलते देखा तो पहिली जो ठीक की हुई बात थी उस का स्मरण हुआ कि हमने पहिले जहां जहां धूआं देखा था वहां वहां आग जरूर पाया था—इस से मैं स्थिर जानता हूं कि—"जहां धूम है वहां आग जरूर है"। यही दो चीजों के हरदम साथ रहने का जो ज्ञान उसी को नैयायिकों ने व्याप्ति ज्ञान कहा है। अनुमान की पहली सीढ़ी यही व्याप्ति ज्ञान

है। इस के बाद जब हम किसी जगह पर धूआं देखते हैं तो इस देखने का हमारे मन में इस प्रकार होता है—"इस जगह धूआं है" । इसी को 'लिङ्ग' कहते हैं—अर्थात् जहां पर लिंग है—धूएं को देखते ही पहला जो व्याप्ति ज्ञान था वह मन में आजाता है। ये दोनों ज्ञान मिल कर मेरे मन में इस प्रकार भासित होते हैं—' जिस धूएं के साथ साथ हरदम हमने आग पाई है उस धूएं को मैं यहां देख रहा हूं । इसी को 'परामर्श ज्ञान' वा व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता ज्ञान, कहते हैं । इसी के अनन्तर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि "इस जगह पर आग है ॥

अनुमान की सीढ़ियां इस प्रकार होती हैं।

(१) "जहां धूआं है तहां आग है" (व्याप्ति) } परामर्श
(२) "यहां पर धूआं है" (पक्षता) }
(३) 'यहां पर आग है" (अनुमिति) परन्तु नैयायिकों के मत से यह प्रकार खूब ठीक नहीं है। यद्यपि अपने मतलब के लिये यह क्रम ठीक हो भी सकता है पर दूसरों के मन में ठीक तरह से ज्ञान कराने के लिए यह प्रकार ठीक नहीं है। इस से अनुमान को खास कर परार्थ (दूसरों के वास्ते) अनुमान का पांच खंड कहा है । वे पांच खंड 'अवयव' कहलाते हैं । ये अवयव यों हैं।

(१) प्रतिज्ञा—साध्य का निर्देश—अनुमान से जो बात सिद्ध करना है उसका वर्णन जिस वाक्य में हो। जैसे—' यहां पर आग है' सू. १. १. ३३।

(२) हेतु—जिस निशान से बात सबूत करनी हो उस निशान की सूचना जिस वाक्य से हो—जैसे—' क्योंकि यहां धूआं है'। सू. १. १. ३४।

(३) उदाहरण—पहिले जहां पर सबूत करनेवाली वस्तु बतलाये हुए निशान के साथ देखी गई है सो जिस वाक्य से बतलाया जाय। जैसे—' जहां जहां धूआं रहता है तहां तहां आग रहती है। जैसे—रसोइ घर में। सू. १. १. ३६।

(४) उपनय—कहा हुआ निशान यहां पर है इस बात का

जिस वाक्य से साफ सूचना होती है। जैसे—'यहां पर धूआं है'। सू. १. १. ३८।

(५) 'निगमन'—सबूत करनेवाली बात सबूत हो गई यह जिस वाक्य से साफ़ मालुम पड़े। जैसे—'इस लिए यहां आग है'। सू. १. १. ३६।

अनुमान का पूरा रूप यों है-

'यहां पर आग है' (प्रतिज्ञा)
'क्योंकि यहां पर धूआं है' (हेतु)
'जहां धूआं रहता है वहां
आग रहती है जैसे
रसोइ घर में'. (उदाहरण)
'यहां पर धूआं है' (उपनय)
'यहां पर आग है' (निगमन)

इन पांचों अवयवों के नाम प्रशस्तपादभाष्य में-'प्रतिज्ञा-उपदेश-निदर्शन-अनुसन्धान-प्रत्याम्नाय'—कहे हैं।

गौतम के सूत्र की नाई उनकी अनुमान की प्रणाली भी दो वादी प्रतिवादी के बीच में विचार के क्रम से ही मानी गई है। इसी से परार्थ अनुमान पर इतना जोर रखकर अनुमान को पंचावयव माना है। जब दो आदमी किसी बात पर सन्देह करके विचार आरम्भ करते हैं जैसे जल द्रव्य है वा नहीं—तो एक आदमी कहता है—"जल द्रव्य है"। यही साध्यनिर्देश कहलाता है। (१) दूसरा पूछता है "यह तुम कैसे जानते हो।" तो इस के उत्तर में पहिला आदमी कहता है "क्योंकि जल में रूप है"—यही 'हेतु' हुआ। (२) इस पर फिर दूसरा आदमी पूछ सकता है-"जल में रूप होने ही से वह द्रव्य क्यों होगा"?। इसके उत्तर में कहा जाता है—"जिस जिस वस्तु में रूप है वह द्रव्य अवश्य है जैसे घड़ा, किताब, वृक्ष इत्यादि" इसी को 'दृष्टान्त' कहते हैं (३) प्रतिवादी फिर कहता है—"हमने माना कि वृक्ष घट इत्यादि में रूप हैं इस से वे द्रव्य हैं पर इससे जल क्यों द्रव्य होने लगा?"। इस के उत्तर में वादी कहता है—"जल में रूप है" यही हुआ 'उपनय' (४)

अब इन चारो बातों पर एकट्ठा विचार कर वादी दृढ़ रूप से कहता है' "इन सब बातों से सिद्ध हुआ है कि जल द्रव्य है"। इसी को 'निगमन' कहा है (५)।

नवीन नैयायिक पांच अवयवों का मानना आवश्यक नहीं समझते। इन के मत से तीन ही वाक्य सबूत करने के लिये काफी होते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त॥ मीमांसक और वेदांतियों ने भी इन्हीं तीन को माना है। बौद्ध नैयायिकों ने दो ही माना है—प्रतिज्ञा और हेतु। वार्तिककार का मत है की यह ठीक नहीं हैं।

अधिक पुराने नैयायिकों ने दस अवयव भी कहीं कहीं पर माने हैं। इनका वर्णन वात्स्यायनभाष्य (सु. १ २३) में है—ऊपर कहे हुए पांच, और उनके अतिरिक्त ये पांच—

(१) जिज्ञासा-बात के जानने की इच्छा।

(२) संशय-जिस चीज को मैं जानना चाहता हूं वह कैसी होगी—अच्छी या बुरी—मैं उसको लूंगा या फेंक दूंगा—' इत्यादि।

(३) शक्यप्राप्ति—उक्त वस्तु के जानने का जो उपाय है उनसे वह चीज जानी जा सकती है।

(४) प्रयोजन-इस बात को जानने से क्या मतलब-

(५) संशयव्युदास—जो बात सबूत की गई उसके विरुद्ध जो जो बातें मालूम पड़ें उनका निराकरण करना-

इनका विचार सूत्र १-१-३२ में किया गया है।

वार्तिककार (पृ०-१११) ने लिखा है कि इनको अवयव मानना भूल है—क्योंकि दूसरों को समझाने में इनका प्रयोजन नहीं पड़ता और दूसरों को समझाना ही अनुमान का असल मतलब समझा गया है। उनका यह कहना है कि दूसरों के समझाने के लिये जितने वाक्यों की आवश्यकता है उन्हीं को अनुमान का 'अवयव' मानना चाहिये। जिज्ञासा--जानने की इच्छा है। यह कोई वाक्य नहीं है—इसको किसी तरह के अनुमान—स्वार्थ या परार्थ—का अवयव कैसे कह सकते हैं"?

प्रत्यक्ष और अनुमान में एक बड़ा भेद यह भी है कि प्रत्यक्ष से केवल वर्तमान काल की चीजें जानी जा सकती हैं—और

अनुमान से भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल की चीजें जानी जा सकती हैं।

अनुमान का विभाग कई तरह से किया गया है। ऊपर कहा गया है कि अनुमान दो प्रकार का है [१] स्वार्थ अपने लिये। अपने मन के विश्वास के लिये जो अनुमान किया जाय उसको 'स्वार्थ' कहते है। [२] 'परार्थ-जो अनुमान दूसरों को विश्वास दिलाने के लिये कहा जाय। स्वार्थानुमान में अनुमान को शब्दों में कहने की ज़रूरत नहीं है। अपने मन में दो एक बातें आई, जैसे 'जिसमें रूप है सो द्रव्य है, जल में रूप है' बस 'जल द्रव्य है' यह बात फौरन मन में जम जाती है। इन बातों को भी स्पष्ट रूप से उच्चारण करने की जरूरत नहीं है। परंतु परार्थ अनुमान में जब तक पांचों वाक्य साफ साफ नहीं कहो जांय तब तक दूसरे आदमी का संदेह दूर नहीं हो सकता। इसी कारण से धर्मोत्तराचार्यने कहा है कि स्वार्थ अनुमान ज्ञानात्मक है और परार्थ शब्दात्मक है। और इसी आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि परार्थ अनुमान अनुमान ही नहीं है, उसको शब्द ज्ञान कहना उचित है। पर कुछ विचार करने से यह साफ मालूम होगा कि परार्थ अनुमान का रूप तो ऐसा है कि शब्दों से स्पष्ट कहना आवश्यक है। पर इन शब्दों से ज्ञान जो दूसरे आदमी के मन में उत्पन्न होता है सो शब्दों ही से नहीं। शब्दज्ञान तो तब होता जब 'जल द्रव्य है' इतना ही कहने से उसके मन में निश्चय हो जाता कि सचमुच जल द्रव्य ही है। ऐसा तो होता नहीं। पांचों वाक्यों को सुनकर वह आदमी विचार करता है और तब स्थिर करता है कि ऐसा ही है। असल में पांचों वाक्यों को वह आदमी फिर अपने मन में कह कर ही विश्वास करता है। इससे जैसा स्वार्थ अनुमान में विचार करने वाला जल में रूप होना रूप वाली चीजों का द्रव्य होना इत्यादि मन में लाकर जल का द्रव्य होना स्थिर करता है उसी तरह परार्थ अनुमान में भी उन्हीं बातों को विचार कर दूसरा आदमी विश्वास करता है कि जल द्रव्य है। फरक इतनाही होता है कि स्वार्थ अनुमान में किसी दूसरे से इन बातों के सुनने की जरूरत

नहीं होती परार्थ अनुमान में दूसरे का बताना आवश्यक होता है । पर इतनेही से इसको शब्दज्ञान कहना उचित नहीं है ।

इसी कारण से गौतम ने अपने सूत्रों में 'स्वार्थ' और 'परार्थ' इन दोनों को अलग अलग दो तरह का अनुमान नहीं माना है। उन्होंने पंचम सूत्र में तीन प्रकार के अनुमान को 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' और 'सामान्यतोदृष्ट' बतलाया है। इसके व्याख्यान में वात्स्यायन भाष्य में कहा है कि—'पूर्ववत्' अनुमान उसे कहते हैं जिसमें कारण से कार्य का अनुमान किया जाय। जैसे मेघ को देखकर जब हम अनुमान करते हैं कि—अब पानी बरसेगा, क्योंकि मेघ पानी का कारण है—तो यही अनुमान 'पूर्ववत्' कहलाया । इसी तरह जहां कार्य से कारण का अनुमान होता है उसको 'शेषवत्' अनुमान कहते हैं। जैसे नदी में बाढ़ आई देख कर जब मैं 'पानी बरसा' ऐसा अनुमान करता हूं। क्योंकि नदी में पानी का बढ़ना पानी के बरसनेही से होता है, पानी बढ़ना बरसात का कार्य है, तो यही 'शेषवत्' अनुमान हुआ । एक जगह में एक अवस्था में एक चीज को देखकर फिर दूसरी जगह वैसीही अवस्था देखकर विना देखे भी 'वह चीज यहां होगी' ऐसा जो अनुमान किया जाता है उसी को 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं। जैसे हमने बारबार देखा है कि जो चीज एक जगह से दूसरी जगह जाती है वह चलती है। फिर सूर्य को देखते हैं कि वह एक जगह से दूसरी जगह जाता है, इस से हम अनुमान करते हैं कि 'सूर्य चलता है'।

इन तीनों की दूसरी व्याख्या भी भाष्य में यों की गई है। दो चीजों को देखा फिर कुछ बाद एक को देखा तो उसी से दूसरी चीज का भी जो अनुमान किया जाता है उसको 'पूर्ववत्' कहते हैं। जैसे धूआं और आग को देख कर फिर कुछ काल के पीछे जहां धूआं देखा वहां आग को न देखकर भी यहां आग जरूर होगी यह अनुमान किया जाता है। जितनी बातें एक चीज के विषय में हो सकती हैं उनमें से और सब का होना जब असम्भव पाया जांय तब जो बाकी रह जाय उसका अनुमान जब होता है

तब 'शेषवत्' कहलाता है। जैसे शब्द यातो द्रव्य या गुण अथवा कर्म हो सकता है यह जान कर फिर वह द्रव्य वा कर्म नहीं हो सकता इसे विचार कर फिर यह अनुमान किया जाता है कि वह गुण है, तो यही शेषवत् अनुमान हुआ। जब दो चीजों का सम्बन्ध हम जानते हैं पर उनमें से एक देखने के लायक नहीं है तब जो देखने योग्य है उसको देखकर दूसरी चीज का अनुमान किया जाता है वह 'सामान्यतोदृष्ट' कहलाता है। जैसे इच्छा द्वेष इत्यादि देखकर आत्मा का अनुमान किया जाता है। पूर्ववत् अनुमान में जिस चीज का अनुमान किया जाता है उस जाति की चीज़ देखी गई है और देखी जा सकती है पर सामान्यतोदृष्ट से जिनका अनुमान किया जाता है उस का लक्षण उस जाति की चीज कभी देखी नहीं जा सकती है। यह मुख्य भेद इन दोनों अनुमानों में है। ये दोनों 'वीत' अनुमान भी कहलाते हैं। इन में 'यह बात है' इसी से दूसरी बात का अनुमान किया जाता है जैसे 'धूआं है' इससे 'आग है' ऐसा अनुमान किया जाता है। शेषवत् को 'अवीत' भी कहा है। इसमें 'यह बात नहीं है' इससे दूसरी बात का अनुमान किया जाता है। जैसे 'शब्द द्रव्य वा कर्म नहीं है' इससे यह अनुमान होता है कि 'शब्द गुण है'।

ऊपर जो अनुमान के नमूने दिखलाये गये हैं। उन सभों में 'ऐसी बात है' इसीका सबूत है। इनको 'अन्वयी' अनुमान कहते हैं अकसर अनुमान ऐसे भी होंगे जिन में 'ऐसी बात नहीं है' ऐसा भी सबूत होता है। इन अनुमानों को 'व्यतिरेकी' अनुमान कहते हैं। प्राचीन नैयायिकों ने इस विभाग को नहीं माना है। उसका कारण यह है कि 'ऐसी बात नहीं है' इसको यदि दूसरी तरह से हम कहें तो ऐसा भी कह सकते हैं कि 'इस बात का अभाव है'। तो यह भी 'अन्वयी' अनुमान ही होगा। इसी बात को प्राचीन ग्रीक नैयायिकों ने भी माना है। इसी से उनका कहना है कि सब शुद्ध अनुमान Barbara के रूप में बदले जा सकते हैं। जिनका यह रूपान्तर न हो सके वे शुद्ध

अनुमान ही नहीं है। परन्तु नवीन नैयायिकों ने अनुमान को तीन प्रकार का माना है-

(१) केवलान्वयी—अन्वयी हेतु से जो अनुमान किया जाय उसको केवलान्वयी अनुमान कहते हैं। अर्थात् जहां जहां हेतु है वहां वहां जो बात सबूत करनी है वह भी पाई जाती है। और हेतु ऐसा हो जिसका कि नहीं होना कहीं सम्भव न हो तो उस हेतु को केवलान्वयी हेतु कहते हैं। ऐसे हेतु से जो अनुमान होता है उसी को 'केवलान्वयी' अनुमान कहते हैं'। जैसे 'यह वस्तु अभिधेय है—अर्थात् इसका नाम कुछ जरूर है—क्यों की यह प्रमेय है—अर्थात वह जाना जा सकता है। यहां पर 'प्रमेय' होना ऐसा हेतु है कि इस का नहीं होना कहीं कभी भी सम्भव नहीं है। कोई चीज ऐसी नहीं है जो जानी न जा सके।

(२) केवल व्यतिरेकी—जो हेतु ऐसा हो कि उसका होना सबूत करने वाली चीजों में कभी भी न हो तो उसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहते हैं। और उससे जो अनुमान होता है उसको केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं। जैसे—"जो चीज—घड़ा—मैं देख रहा हूं सो पानी या आग नहीं है—क्योंकि इसमें गन्ध पाई जाती है"—यहांपर गन्ध का होना ऐसा है कि वह कभी आग या पानी में हो ही नहीं सकता। इससे इसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहते हैं।

(३) अन्वयव्यतिरेकी—जो हेतु ऐसा हो की कहीं कहीं है और कहीं कहीं न हो भी हैं तो उसको अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं। और ऐसे हेतु से जो अनुमान किया जाता है वह 'अन्वयव्यतिरेकी' अनुमान हुआ। जैसे 'जहां धूआं है तहां आग है जैसे रसोई घर में'। इस में अनुमान धूआं का होना कहा और देखा जाता है और 'जहां आग नहीं है वहां धूआं नहीं है जैसे कूप में' यहां धूआं का न रहना हेतु में कहा गया इसी से धूआं 'अन्वयव्यतिरेकी हेतु हुआ।

यह विभाग असल में हेतु ही का विभाग हुआ और उसी के

द्वारा अनुमान का भी । इसी से प्राचीनों ने इस विभाग को नहीं कहा है ।

प्राचीन नैयायिकों ने इन तीन प्रकारों को न मानकर केवल दो प्रकार का अनुमान 'वीत' और 'अवीत' माना है । 'ऐसी यह चीज है' यह जिस अनुमान से सबूत किया जाय उसको 'वीत' कहते हैं । और 'ऐसी यह चीज नहीं है'—यह जिससे सबूत किया जाय उसको 'अवीत' कहते हैं ।

अनुमान के कहने में पांच वाक्योंकी जरूरत होती है सो कह आये हैं । जैसे—

" पर्वत में आग है ।
" क्योंकि यहां धूआं देख पड़ता है
" जहां धूआं है वहां आग जरूर है जैसे रसोई घर में
" यहां पर धूआं है
" यहां पर आग है ।

इन वाक्यों में 'पर्वत—आग-धूआं रसोई घर—यही चार चीजों के नाम पाये गये । (१] पर्वत वह है जिस में आग का होना सबूत करना है । इसको कहा है 'पक्ष' अर्थात् जिस के विषय में संदेह हो कि सबूत करनेवाली बात इस में है या नहीं (२] आग वह चीज है जिसका होना सबूत करना है । इस का नाम है 'साध्य' जिस को अनुमान से सिद्ध या सबूत करना है ॥ (३] धूआं वह चीज है जिस के द्वारा आग का होना सबूत करते हैं । इस का नाम है 'हेतु' या 'लिंग' । (४) रसोई घर में आग और धूआं साथ पाया जाता है इसी के दृष्टान्त से पर्वत में धूआं के साथ आग का रहना सबूत करते हैं । इस को 'सपक्ष' कहते हैं । अर्थात् जिस में साध्य का रहना ठीक मालूम है ॥ इसी तरह जिस में साध्य का न रहना ठीक मालूम हो उस को 'विपक्ष' कहते हैं ॥

इन पांचों अवयवों में से और चार पर बहुत कुछ लिखना आवश्यक नहीं है । परन्तु अनुमान का मूल है हेतु इस से इस का विचार आवश्यक है । अब यहां पर यह विचार किया जायगा कि हेतु वा लिंग क्या है, सत् या अच्छा शुद्ध हेतु

कैसा होना है और असत् वा अशुद्ध बुरा हेतु कौन सा है इत्यादि। असत् हेतुओं ही का नाम हेत्वाभास है।

अनुमान के पांचो अवयवों से दूसरे का नाम कहा है 'हेतु' गौतम सूत्र में ऐसा ही कहा है। परन्तु यथार्थ में उस अवयव का नाम 'हेतुवचन' कहना ठीक है। ऐसा ही टीकाओं में कहा भी है। इस 'हेतु' या 'हेतुवचन' का लक्षण गौतम सूत्र भाष्य (१।४०) में यों किया है-जो धर्म उदाहरण या दृष्टांत में देखा गया है उसी का जो बात जहां सबूत करनी हो वहां रहना सूचित किया जाय जिस वाक्य से उसी को कहते हैं 'हेतु'। इस से 'हेतु' वा लिंग का लक्षण ऐसा निकला कि-'जो धर्म दृष्टांत में सबूत करनेवाली चीज के साथ देखा गया है और जहां पर वह चीज सबूत करनी है वहां भी वह धर्म हो वही धर्म हुआ 'हेतु' वा 'लिंग'। ठीक ठीक लक्षण इस का एक प्राचीन कारिका में यों कहा है—

[१] पक्ष में साध्य के साथ रहै—अर्थात् जहां पर जो चीज सबूत करना है वहां पर उस चीज के साथ रहै—

[२] सबूत कीजानेवाली चीज जहां जहां हो वहां वहां रहै। (३) जहां जहां सबूत करनेवाली चीज न रहे वहां वहां कभी न रहै—

ये तीन बातें जिस में पाई जावें वही है 'हेतु' वा 'लिंग'॥ जिस में ये तीनों बातें पाई जाएँ वह है 'सत् हेतु' और जिन में ये न पाई जाएँ वह है 'असत् हेतु'।

प्राचीन नैयायिकों ने हेतु के तीन विभाग नहीं माने हैं। गौतम सूत्र में तथा भाष्य वार्तिक में दो तरह का 'हेतु' बतलाया है। पहिला वह जो साधर्म्य या सादृश्य के द्वारा किसी बात को सबूत करती है —जैसे यहां आग है इस का सबूत 'यहां पर भी धूआं है और रसोई घर में जहां हम ने आग देखा है वहां भी धूआं था' इस से इस जगह के साथ रसोई घर का साधर्म्य या सादृश्य दोनों जगह धूआं का रहना हुआ, इस बात से जो यहां पर आग का अनुमान किया गया सो साधर्म्य हेतु द्वारा हुआ। यही अनुमान 'वीत' अनुमान हुआ। (स. १. १. ३४)। और जहां पर जिस चीज के प्रसङ्ग कुछ सबूत करना है उस के साथ कोई

दूसरी जानी हुई चीज के साथ किसी वैधर्म्य के द्वारा जो किसी बात को सबूत करे वह दूसरा वैधर्म्यहेतु हुआ। (सू० १. १. ३५) इस का उदाहरण न्यायवार्तिक में अच्छा देखलाया है—'हमारा शरीर आत्मा से शून्य नहीं है क्योंकी यदि आत्मा नहीं होता तो इसमें ज्ञान भी न होती। हम अपने शरीर में ज्ञान पाते हैं ईंट पत्थर में ज्ञान नहीं पाते यही हुआ दोनों का वैधर्म्य। फिर ईंट पत्थर में आत्मा नहीं है सो भी हम को मालूम है। इससे हम यों अनुमान कर लेते हैं कि यदि मेरे शरीर में भी आत्मा न होता तो इसमें ज्ञान भी न होती॥

इन दोनों तरहों के हेतु में असल फरक यह हैं कि साधर्म्य हेतु-जिसका दूसरा नाम अन्वयी हेतु भी है-उसके द्वारा चीजों का रूप कैसा है सो सबूत किया जाता है। और वैधर्म्यहेतु—जिसको व्यतिरेकी हेतु' भी कहते हैं—उस के द्वारा किसी चीज का रूप जो दूसरा आदमी मानता हो सो वैसा नहीं है यह सबूत किया जाता है।

ये दो प्रकार के हेतु जो प्राचीनों ने माना है उसी से नवीन नैयायिकों ने तीन प्रकार निकाला है। ये तीन प्रकार यों हैं।

हेतु तीन तरह के होते हैं, जैसे पहले कह आये हैं। अन्वय-व्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी। जिस हेतु के निस्बत ऐसा समझा जाय कि जहां जहां वह है तहां वहां साध्य है और जहां जहां साध्य नहीं है तहां कहीं वह नहीं है, तो यह हुआ अन्वयव्यतिरेकी हेतु। अर्थात् इस हेतु का साध्य के साथ व्याप्ति अन्वय और व्यतिरेक दोनों तरह से हुआ। 'ऐसा है' यह जिस वाक्य में कहा जाय उसी को 'अन्वय' कहते हैं। और 'ऐसा नहीं है' यह जिसमें कहा जाय उसी को कहते हैं 'व्यतिरेक'। आग के सबूत करने में जब आग साध्य है. तब धूआं अन्वय-व्यतिरेकी हेतु है। क्योंकि इन के निस्बत हम यह जानते हैं कि 'जहां जहां धूआं हैं वहां आग है जैसे रसोई घर में' और 'जहां आग नहीं हैं वहां कही भी धूआं नहीं है' जैसे तालाव में। इसमें दोनों तरह के दृष्टांत हैं। और दोनों तरह के हेतुओं में एकही तरह का दृष्टांत मिलता है। कोइ हेतु ऐसा

है जिसका नहीं होना कभी सम्भव नहीं, जैसे 'अभिधेय' 'प्रमेय' इत्यादि। क्योंकि ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो अभिधेय न हो, जिसका नाम नहीं हो। और न कोई ऐसी चीज है जो प्रमेय नहीं हो जिसका ज्ञान न होसके। इन हेतुओं के निसबत भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'जहां साध्य नहीं है वहां ये नहीं है'। इससे इनके निसबत जब होगी तब अन्वयव्याप्ति ही होगी—'जहां प्रमेयत्व है वहां अभिधेयत्व है'—इसी लिये ये हेतु केवलान्वयी हेतु कहलाये।

इसी तरह कई हेतु ऐसे हैं जिन के प्रसंग ऐसा दृष्टांत न पाया जाय जिससे यह सबूत हो सके कि जहां ये हैं तहां साध्य है। 'जैसे' पृथिवी और चीजों से भिन्न है क्यों की इस में गन्ध है'—यहां पर गंध है हेतु—इसके निसबत हम ऐसे ही दृष्टान्त पा सकते हैं जिससें यही सूचित हो की 'जहां इतर भेद नहीं है—अर्थात् जो पृथिवी से भिन्न है उनमें गन्ध नहीं है—जैसे जल में वायु में इत्यादि। पर ऐसा कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलता जहां हम कह सकें की 'जहां गन्ध है वहां इतर भेद है' क्यों की गंध खाली पृथिवी में रह सकता है। इससे इसको छोड़ और कोई चीज़ ऐसी नहीं हैं जहां गंध पाया जाय या इतर भेद पाया जाय। इसी से इसको कहते हैं 'केवलव्यतिरेकी हेतु।

इनतीनो तरह के हेतुओं का ठीक ज्ञान नीचे के चित्रों से होगा—
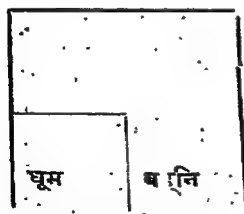
अन्वयव्यतिरेकी
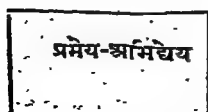
केवलान्वयी

गन्ध-पृथिवी (पृथिवीतरभेद)	पृथिवीतर	केवलव्यतिरेकी

प्राचीनों का विभाग बहुत ठीक था। 'ऐसी बात है' यह जिस से सिद्ध किया जाय वह हुआ अन्वयी हेतु और 'ऐसी बात नहीं है'-इसका सिद्ध करने वाला हुआ 'व्यतिरेकी हेतु। नवीनों ने जो तीन भेद बतलाये हैं उनके प्रसंग कई तरह की शंकाएँ उठती हैं।

यूरोप देश के तर्कशास्त्र (Logic) के पढ़ने वाले यह कहते हैं की अनुमान में एक बड़ी जाति से छोटी जाति का अनुमान होना उचित है अर्थात् व्यापक से व्याप्यका अनुमान होना चाहिये। जैसे धूम से आग का अनुमान। इससे अन्वयव्यतिरेकी हेतु ही ठीक है। केवलान्वयी में किसी व्यापक से व्याप्य का अनुमान नहीं होता, दोनों बराबर रहते हैं। जैसे जितनी चीजें अभिधेय हैं, जिनका नाम हो सकता है, वे सब प्रमेय भी हैं, जाने जा सकते हैं। इस से अभिधेयत्व से प्रमेयत्व का अनुमान ठीक नहीं। अर्थात् केवलान्वयी हेतु को असल हेतु नहीं मान सकते हैं।

इस शंका के मूल ही में कमजोरी देख पड़ती है। ऐसा किसने कहा है की व्यापक से व्याप्यके अनुमान ही को 'अनुमान' कहते हैं। इस बात को जो स्वीकार करेंगे उनके लिये अवश्य केवलान्वयी हेतु नहीं हो सकता। परंतु नैयायिकों ने ऐसा नहीं माना है। उनका कहना इतना ही है की जहां दो चीजों में नियत सम्बन्ध है वहां एक से दूसरे का अनुमान होता है। अभिधेयत्व और प्रमेयत्व का नियत सम्बन्ध है ऐसा सभी स्वीकार करते हैं। तब यदि अभिधेयत्व से प्रमेयत्व का अनुमान किया जाय तो इसमें क्या गलती हो सकती है।

केवलव्यतिरेकी के प्रसंग वेदान्त मीमांसा के प्राचीन ग्रन्थ-कारों ने भी शंका की है। 'पृथिवी और चीजों से भिन्न है क्योंकि इसमें गन्ध है' यही व्यतिरेकी अनुमान का उदाहरण है। जहां गन्ध है वह पृथिवी को छोड़ और चीजों से भिन्न है ऐसी व्याप्ति इस अनुमान का मूल नहीं मानी गई है। क्योंकी इस व्याप्ति के लिये पृथिवी को छोड़ कर कोई दृष्टान्त नहीं है। इससे इस अनु-

मान की मूलव्याप्ति को इस तरह से माना है—'जहां जहां गन्ध नहीं है वह चीज पृथिवी से भिन्न नहीं है ऐसा नहीं देखा जाता है' इसके लिये जल इत्यादि दृष्टान्त मौजूद हैं। इसके प्रसंग यह दोष दिया जाता है की व्याप्ति तो बतलाते हैं 'गन्धाभाव' (गन्ध का न होना) को और अनुमान कहते हैं 'गन्ध' से पृथिवी से भिन्न नहीं होने को। यह ठीक नहीं है।

इसका समाधान नैयायिकों ने जो दिया वह मन में ठीक नहीं बैठता।

वेदान्ती-और मीमांसकों ने व्यतिरेकी हेतु नहीं माना है। जो दृष्टान्त ऐसे अनुमानों का नैयायिकों ने दिखलाये हैं उनके लिये उन्होंने एक और प्रमाण 'अर्थापत्ति' नामका माना है। जहां पर जो बात ठीक देखी जाय वह बात यदि और एक दूसरी बात के विना नहीं होती यदि ऐसा भी ठीक मालूम हो, तो पहली बात से दूसरी बात के होने का जो ज्ञान होता है सो अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। जैसे 'यहां गन्ध है' सो हम को साफ मालूम है—फिर हमें यह भी मालूम है कि जहां पृथिवी न हो वहां गन्ध नहीं रहता—इससे गन्ध के रहने से ' पृथिवी से अलग और कोई चीज़ यह नहीं है,—यह ज्ञान शुद्ध अर्थापत्ति ही हुआ।

प्रमाणों की संख्या कम रखने ही के आग्रह से नैयायिकों ने अर्थापत्ति न मानकर उस की जगह केवल व्यतिरेकी अनुमान माना है।

हेतु 'सत्' या 'शुद्ध' कैसा है सो ऊपर कह आये हैं। इससे यह मालूम है कि हेतु में इन तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) पक्ष में होना—(२) सपक्ष में होना—(३) विपक्ष में न होना। इसी से 'असत्' हेतु क्या है सो भी हम समझ सकते हैं। परन्तु किस तरह का दोष इस हेतु में है यह नहीं बतलाया जा सकता। इस लिये गौतम ने हेतुदोषों का बहुत अच्छी तरह वर्णन किया है। असत् हेतु को 'हेत्वाभास' कहते है। यद्यपि हेत्वाभास को गौतम ने तेरहवां पदार्थ माना है। इस से, अन्त में इसका विचार करना सो ही क्रम

ठीक होता तो भी हेतु का विचार जहां है वहां ही उसके प्रसंग कुल बातों का विचार करना उचित मालूम पड़ता है।

जितने हेतु अनुमान में उपन्यस्त होते हैं वे सब साध्य के साथ रहने वाले समझे जाकर हेतु बनाये जाते है। साध्य साथ रहने वाले धर्म सोलह प्रकार के होते हैं—(१) साध्य से अतिरिक्त भी सभी पदार्थों के साथ जो सदा रहता है—जैसे 'प्रमेयत्व—जाना जाना' नित्य पदार्थों में भी है और अनित्य पदार्थों में भी।

(२) साध्य के सजातीय चीजों में रहे और किसी एक ऐसी जगह भी रहे जहां साध्य नहीं रह सकता—जैसे "सींघ' कुल बैलों में भी है और भैंसों में भी रहता है।

(३) साध्य के सजातीय कुल चीज़ों में हो और जहां साध्य नहीं है वहां कभी भी न हो-जैसे 'उत्पत्ति होना' कुल अनित्य चीजों में है—नित्य चीजों में कहीं भी नहीं।

(४) साध्य के सजातीय किसी चीज में न हो-जहां जहां साध्य नहीं है वहां सब जगह हो—जैसे 'उत्पन्न का होना' यदि नित्य सिद्ध करने में हेतु कहा जाय तो यह ऐसा हेतु है जो किसी नित्य वस्तु में नहीं है—सकल अनित्य चीजों में है॥

(५) साध्य के सजातीय में कहीं भी न हो, जहां साध्य नहीं है तैसा एक जगह में हो—जैसे 'जाति और व्यक्ति रूप से रहकर बाह्यइन्द्रियों से जाना जाना' कुल नित्य चीजों में नहीं पाया जाता है। और कई अनित्य चीजों में पाया जाता है।

(६) जो साध्य के सदृश चीजों में न हो—और जहां साध्य नहीं है वहां भी न हो-जैसे 'कान से सुना जाना' नित्य चीजों में नहीं है—और न अनित्यही चीजों में, केवल शब्द में पाया जाता है॥

(७) साध्य के समान किसी एक चीज में हो—पर जहां साध्य नहीं है वैसा सब जगहों में हो-जैसे 'सींघ' भैंस में है, जो 'अगौः, गाय नहीं' है और 'अगौः जहां नहीं है' अर्थात् कुल गायों में भी है। इत्यादि न्यायवार्तिक (पृ. १६६. ७) में गिनाया है। इसी तरह हिसाब करने से दो हजार से ऊपर

संख्या तक बतला कर इनके अनन्त भेद हो सकते हैं ऐसा कहा है इन में पांच तो असल 'हेतु' है—और सब गलत हेतु—या हेत्वाभास हैं।

पर यहां केवल गौतम सूत्र में गिनाये हुए पांच प्रधान हेत्वाभासों का वर्णन करते हैं।

(१) सव्यभिचार (अनैकान्तिक)-(२) विरुद्ध—(३) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)—(४) (असिद्ध) साध्यसम—(५) कालातीत (बाधित)—ये पांच हेत्वाभास गौतमसूत्र में (१. २. ४—६) निरूपित हैं।

(१) सव्यभिचार।

(१) सव्यभिचार (जिसको नवीन ग्रन्थकार 'अनैकान्तिक' भी कहते हैं) हेतु वह है जो साध्य के साथ भी रहे और उससे फरक भी रहे। जैसे 'शब्द नित्य है क्योंकी इसका स्पर्श नहीं हो सकता' यदि ऐसा अनुमान किया जाय तो यहां स्पर्श का न होना' है हेतु और 'नित्य' है साध्य। और हम देखते हैं की यद्यपि घड़ा इत्यादि पदार्थों में 'स्पर्श का न होना' और 'नित्यता' दोनों साथ पाये जाते हैं तथापि और कितनी चीज हैं जहा दोनों साथ नहीं है—जैसे पृथ्वीपरमाणु में यद्यपि स्पर्श है तथापि वह अनित्य है और बुद्धि में यद्यपि स्पर्श नहीं है तथापि वह अनित्य है। इससे 'नित्यता' सिद्ध करने में 'स्पर्श का न होना सव्यभिचार हेतु हुआ। क्योंकि पृथिवी परमाणु में और बुद्धि में दोनों का 'व्यभिचार' पाया जाता है-अर्थात् दोनों साथ नहीं पाये जाते। इसको 'अनैकान्तिक' इस लिये कहते हैं की किसी चीज का होना हुआ एक 'अन्त'-उसी का न होना हुआ दूसरा 'अन्त'। 'है' या 'नहीं है' यह एक बात के साथ जो रहे सो हुआ 'एकान्त' जो एक के साथ नहीं बल्कि दोनों के साथ रहे वही हुआ 'अनैकान्तिक'॥ यह हेतु दुष्ट इस से हुआ कि ऐसे हेतु से 'है' 'नहीं है' यह दोनों सिद्ध हो सकता है। जैसे 'यह नित्य है क्योंकी इसका स्पर्श नहीं होता-जैसे आत्मा' इस अनुमान से नित्यता सिद्ध होती है। इसी तरह 'यह अनित्य है क्योंकि

इसका स्पर्श नहीं होता—जैसे बुद्धि'—इस से अनित्यता भी सिद्ध होती है।

सव्यभिचार हेतु दो तरह का होता है। (१) साधारण—वह हेतु है जो पक्ष में भी है–जहा साध्य है वैसी सब जगह में है-और जहां साध्य नहीं है वैसी भी सब जगहों में है। जैसे 'शब्द नित्य है क्योंकी वह जाना जाता है'। यह 'जाना जाना' शब्द में है—आत्मा आकाश जितनी नित्य चीजें हैं उन में हैं-और घड़ा कपड़ा इत्यादि जितनी अनित्य चीजें हैं उनमें भी हैं। (२) असाधारण—जो खाली पक्ष में हो और कहीं भी न हो—जैसे 'पृथिवी नित्य है क्योंकी इसमें गन्ध है' यहाँ 'गन्ध' केवल पृथिवी में है और किसी भी नित्य या अनित्य चीज में नहीं है—ऐसे हेतु से कुछ भी सबूत नहीं हो सकता॥ कुछ नवीन नैयायिकों ने 'अनुपसंहारी' एक तीसरा भी भेद सव्यभिचार का माना है। अनुपसंहारी हेतु वह है जो पक्ष को छोड़ कर और कहीं भी साध्यके साथ न पाया जाय। प्राचीनों ने इसको नहीं बतलाया क्योंकी ऐसा हेतु केवल उसी अनुमान में पाया जाता हैं जिसमें 'कुल चीजें' पक्ष हों। जैसे 'कुल चीजें अनित्य हैं;क्योंकी वे प्रमेय हैं' यहां कुल चीजों को छोड़ कर और कोई चीज नहीं है जो दृष्टान्त हो सके। दृष्टान्त होने से पंच अवयव पूरे न होने से अनुमान का स्वरूप पूरा न होता—यही इसमें दोष है। असल में हेतु दुष्ट नहीं कहा जा सकता। यदि 'प्रमेय' वस्तु अनित्य हो तो कुल चीजों का अनित्य होना सिद्ध होहीगा। यदि प्रमेय वस्तु नित्य अनित्य दोनों है इससे हेतु दुष्ट हुआ तो यह 'साधारण' ही में आ गया फिर तीसरा प्रकार मानने से फल ही क्या। इससे प्राचीनों का दोही भेद ठीक शान होता है।

(२०) विरुद्ध।

जो बात सबूत करना है उसका उल्टा ही जिस हेतु से सिद्ध हो उसको 'विरुद्ध' हेतु कहते हैं। जैसे, 'यह पानी ठंढा है—क्योंकी अभी आग पर चढ़ा है'। जो सिद्धान्त मान लीया गया है जिसका सबूत करना इष्ट हो—उसका उलटा ही जो सिद्ध करे, और सिद्धान्त को मिथ्या ही सिद्ध कर दे ऐसे हेतु को भी विरुद्ध

कहते हैं ॥ (गौतमसूत्र १।२।)। "अनैकान्तिक' और विरुद्ध हेतु में यही भेद है की जो बात जहा सबूत करना है उससे दूसरी जगह भी जो रहता है उसे 'अनैकान्तिक' या 'सव्यभिचार' कहते हैं—इससे इतना ही होता है की जो सबूत करना है वह अच्छी तरह से सबूत नहीं होता—और 'विरुद्ध' हेतु से सिद्धान्त सबूत सबूत नहीं होता इतनाही नही बल्कि उसका उलटी ही बात सबूत होती है । जैसे 'देवदत्त पंडित हैं क्योंकि वह आदमी हैं'—यहां पर 'आदमी होना' यह हेतु सव्यभिचार हुआ क्योंकि बहुतेरे आदमी ऐसे हैं जो पंडित नहीं है-इससे आदमी होने से 'पंडित होना' पक्की तरह से सबूत नहीं होता । और 'पानी ठंढा है क्योंकी आग पर चढ़ा है' यहा पर 'आग पर चढ़ा रहना' इससे पानी का ठंढा होना सबूत नहीं होता इतना ही नहीं—बल्कि उसका उलटा गरम होना सिद्ध होता है ।

(३) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष)

असल बात क्या है सो जहां निश्चय न हो-'ऐसी बात है या वैसी है' यह जहां साफ न मालूम हो-ऐसी हालत में यदि कोई बात ऐसी कही जाय जिसने किसी एक तरफ की सफाई असल में नहीं होती पर तौभी वह बात एक तरफ के सबूत करने के लिये पेश की जाय-तो इसी को 'प्रकरणसम' हेतु कहते हैं-यह लक्षण गौतम सूत्र १, २., में पाया जाता है । इस का साफ मतलब वार्तिकमे यों कहा है-"जहां किसी चीज के दो गुणों में असल में एक भी साफ या ठीक न मालूम हो वहां इनमें से कोई एक यदि किसी बात के सबूत में पेश कीया जाय तो वही प्रकरणसम है ।" 'प्रकरण' का अर्थ भाष्य मे कहा है-जो सबूत करना है सो बात और उसके विरुद्ध जो बात है ये दोनों जहां अनिर्णीत रहते हैं-ऐसी बात है या वैसी यह जहां साफ नहीं मालूम रहता-वही हुआ 'प्रकरण'। इसके 'सम'-बराबर-वह हेतु है जिससे इधर या उधर की किसी एक बात का सबूत न हो सके । इस हेतु का उदाहरण--'शब्द अनित्य है क्योंकी इसमें नित्यधर्म कोई नहीं पाये जाते । यहां पर असल में शब्द में जैसे नित्य धर्म नहीं पाये जाते' वैसे अनित्य

धर्म भी नहीं पाये जाते। इस से शब्द के दो गुण-नित्यधर्म या अनित्यधर्म--एक भी ठीक नहीं मालूम होता। इससे असल में यह नहीं मालूम हो सकता कि शब्द नित्य है या नहीं। ऐसी दशा में शब्द की नित्यता को सिद्ध करने के लिये इन दोनों में से एक गुण यदि पेश किया जाय तो यही 'प्रकरणसम' हेतु कहलाता है।

तर्कभाषा में इसका लक्षण ऐसा कहा है—जो हेतु पेश किया जाय उससे जो बात सिद्ध करना है वही साबित होती है पर उसी के साथ साथ यदि यह भी पाया जाय कि उस बात का उलटा साबित करने के लिये कोई दूसरा हेतु भी वैसा ही मज़बूत है, तो ऐसी दशा में ये दोनों हेतु 'प्रकरणसम' होंगे। ऊपर कहे हुए उदाहरण में नित्य धर्म के न पाए जाने से शब्द का अनित्य होना जिस प्रकार साबित होता है उसी तरह अनित्य धर्म के न पाए जाने से उसका नित्य होना भी साबित होता है। इससे ये दोनों हेतु अर्थात् 'अनित्य धर्म का न पाया जाना' और 'नित्य धर्म का न पाया जाना'-प्रकरण सम हुए। इसी को नवीन नैयायिक 'सत्प्रतिपक्ष' भी कहते हैं। इसमें दोनों हेतु बराबर बलवान होते हैं। उनकी मज़बूती में कुछ भी कमी या अधिकता नहीं रहती। कमी बेशी होने से जो अधिक बलवान होगा उस से दूसरे का बाध हो जायगा और वह हेतु 'बाधित हेत्वाभास' हो जायगा। विरुद्ध हेतु से 'प्रकरणसम' हेतु का फ़रक यही है कि 'विरुद्ध' हेतु से दोनों तरह की बातें साबित होती हैं जैसे 'शब्द नित्य है क्यों कि वह उत्पन्न होता है' इस अनुमान में 'उत्पन्न होता है' इस से नित्यत्व सिद्ध किया जाता है, और इसी हेतु से शब्द का अनित्यत्व भी सिद्ध होता है। इसमें एकही हेतु से साध्य और साध्य का उलटा दोनों साबित किया जाता है। पर 'प्रकरणसम' हेतु में ऐसा नहीं होता। इसमें साध्य के साबित करने में एक हेतु पेश होता है, और उसका उलटा साबित करने में दूसरा हेतु पेश होता है जो उतना ही बलवान होता है। विरुद्ध से साध्य का उलटा सिद्ध होता है और प्रकरणसम में यह कमज़ोरी होती है कि उलटा साबित करने के लिये भी वैसाही ज़बरदस्त हेतु मौजूद रहता है।

साध्यसम (असिद्ध)

जो हेतु किसी बात के सिद्ध करने में पेश किया जाय वह यदि खुद भी सन्दिग्ध ही हो,उसके विषय में भी शक हो,तो वह हेतु'साध्य-सम' कहलाता है। जैसा सन्देह साध्य के विषय में है–जिस सन्देह के दूर करने के वास्ते अनुमान पेश किया जाता है-वैसा ही सन्देह यदि हेतु के विषय में भी हो तो वह हेतु साध्य के सम अर्थात् बराबर हुआ। इसी से उसे " साध्यसम " कहते हैं। जैसे-'छाया द्रव्य है क्योंकि वह चलती है ' इस अनुमान में ' छाया का चलना ' हेतु है लेकिन छाया के चलने में उतना ही सन्देह है जितना उसके द्रव्य होने में। इससे यह हेतु ' साध्यसम ' हुआ । इसीको ' असिद्ध ' भी कहते हैं। यह नाम (साध्यसम) वार्तिक में पाया जाता है और भाष्य में भी आया है।

जैसे 'असिद्ध' हेतु साध्य का व्याप्य नहीं होता वैसे ही 'सव्य-भिचार' हेतु भी है। इससे इन दोनों का भेद साफ़ नहीं मालूम हो सकता। भेद सूक्ष्म है। 'सव्यभिचार' में यह निश्चय रहता है कि हेतु साध्य का व्याप्य नहीं है। इससे अनुमान की जड़ जो व्याप्ति सो इस में नहीं रहती । पर 'असिद्ध ' में हेतु साध्य का व्याप्य है या नहीं, इसका निश्चय नहीं रहता वरन् इसमें पूरा शक पैदा हो जाता है जिससे व्याप्ति की मज़बूती जाती रहती है और कमज़ोर व्याप्ति के आधार पर अनुमान दृढ़ नहीं हो सकता।

साध्यसम या असिद्ध हेतु तीन प्रकार के होते हैं। वार्तिक में इन तीनों प्रकारों का नाम यों लिखा है (१) प्रज्ञापनीयधर्मसमान जिसको तात्पर्य टीका में 'असिद्ध' और नवीन ग्रन्थों में 'स्वरूपासिद्ध' भी कहा है । (२) आश्रयासिद्ध । (३) अन्यथासिद्ध जिसे नवीन ग्रन्थों में 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहा है। स्वरूपासिद्ध हेतु का उदाहरण इस प्रकार है–"घोड़ा गाय है क्योंकि उसके सींग हैं"। यहां सींग का होना घोड़ों में कभी सम्भव नहीं है। इससे यह हेतु स्वरूप ही से, अपने स्वभाव से ही, असिद्ध हुआ। भाष्य में तीनों प्रकार का एक ही उदाहरण कहा गया है। ' छाया द्रव्य है क्योंकि

यह चलती है'। इस में जिस प्रकार छाया का द्रव्य होना सिद्ध करना है वैसेही उसका चलना भी सिद्ध करना है। इस से छाया का चलना असिद्ध हुआ।

आश्रयासिद्ध का उदाहरण वार्तिक में इस प्रकार बतलाया गया है-'छाया द्रव्य है-क्योंकि वह चलती है'। इस अनुमान में छाया का चलना हेतु रक्खा गया है। परंतु छाया का चलना तब तक नहीं माना जा सकता जब तक पहिले ही उसका द्रव्य होना भी न मान लिया जाय। और यदि उसका द्रव्य होना मान ही लिया जाय तो फिर अनुमान का प्रयोजन ही क्या रह जायगा? द्रव्य ही चल सकता है, द्रव्य ही चलने का 'आश्रय' हो सकता है। इससे जब तक छाया का द्रव्य होना न सिद्ध हो तब तक वह चलने का 'आश्रय' ही नहीं है। इससे यह हेतु आश्रयासिद्ध हुआ।

आश्रयासिद्ध हेतु का दूसरा उदाहरण वाचस्पति मिश्र ने बतलाया है-'ईश्वर संसार का कर्ता नहीं है क्योंकि उसको शरीर नहीं है'। इस अनुमान में ईश्वर के 'शरीर का न होना' तब तक हम नहीं मान सकते जब तक यह न मान लिया जाय कि 'वह कर्ता नहीं है।' इससे 'शरीर का न होना' इसका आश्रय नहीं रहा। नवीन ग्रन्थों में आश्रयासिद्ध का लक्षण इस प्रकार दिया है:—'जिस हेतु का आश्रय हो ही नहीं अर्थात् जिस चीज़ में हेतु का रहना बतलाया जाय वह चीज़ ही यदि ऐसी हो कि उसका होना सर्वथा असम्भव हो तो वह हेतु आश्रयासिद्ध हुआ। उदाहरण—'अमर आदमी को दो आंखें हैं क्योंकि वह आदमी है'-इस अनुमान में 'आदमी का होना' हेतु है। उस हेतु का रहना 'अमर आदमी' में बतलाया जाता है। पर अमर आदमी का होना सम्भव ही नहीं है। इससे यह आश्रयासिद्ध हुआ।

एक लक्षण 'आश्रयासिद्ध' का ऐसा भी किया गया है कि जिसके पक्ष में पक्ष का लक्षण ही न हो। किन्तु यह दोष तो पक्ष का होगा न कि हेतु का। यदि पक्ष असम्भव है तो यह दोष पक्ष का हुआ। इससे प्राचीनों का जो उदाहरण है वही ठीक मालूम पड़ता है। उन उदाहरणों से 'आश्रयासिद्ध' का यह लक्षण आता है कि

जिस हेतु का जो पक्ष आधार बतलाया जाय वह यदि ऐसा हो कि उसका निश्चय न हुआ हो तो वह हेतु आश्रयासिद्ध होता है'। इसी लक्षण से यह 'असिद्ध' का एक अवान्तर भेद हो सकता है। और 'जिसके पक्ष में पक्ष के लक्षण न हों' ऐसा यदि आश्रयासिद्ध का लक्षण किया जाय तो यह ' असिद्ध ' का अवान्तर भेद कैसे होगा ? असिद्ध का लक्षण सूत्र में कहा है ' जिसका साबित करना वैसा ही आवश्यक हो जैसा साध्य का '। 'अमर आदमी के दो आंखें हैं—क्योंकि वह आदमी है ' या ' गगनकुसुम में सुगन्ध है-क्योंकि वह कुसुम है '। इन अनुमानों में हेतु ऐसे नहीं हैं जिनको साबित करने की जरूरत हो। आदमी तो आदमी है ही, कुसुम तो कुसुम है ही, फिर ये हेतु 'असिद्ध' किस तरह कहे जा सकते हैं ? परन्तु 'छाया द्रव्य है क्योंकि वह चलती है' इसमें ' छाया चलती है' इस बात के साबित करने की उतनी ही ज़रूरत है जितनी छाया के द्रव्य होने की।

जिस बात के साबित करने के लिये कोई ऐसा हेतु उपस्थित किया जाय कि उस हेतु के बिना भी वह बात सिद्ध समझी जाय तो उस हेतु को 'अन्यथासिद्ध' कहते हैं। जहां ऐसा हो वहां हेतु साध्य का व्याप्य नहीं माना जा सकता। अर्थात् 'जहां जहां हेतु है वहां वहां साध्य है' यह वहां पर नहीं कहा जा सकता। इसी से इसको 'व्याप्यत्वासिद्ध' भी कहा है अर्थात् जिस हेतु में साध्य का व्याप्य होना सिद्ध न हो। जैसे- "यह पंडित है-क्योंकि काशी में रहता है"। 'जो काशी में रहते हैं वे सब पंडित होते हैं' ऐसा यदि पाया जाता तो यह अनुमान ठीक होता। लेकिन ऐसा नहीं पाया जाता। 'काशी में रहना" इसके स्थान पर 'मेहनत से पढ़ना' इत्यादि दूसरे ही कारण 'पंडित होने' के पाए जाते हैं। इससे 'काशी में रहना' यह हेतु ' पंडित होना' जो साध्य है उस का ' व्याप्य ' नहीं हुआ। इसी से वह 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेतु हुआ।

स्वरूपासिद्ध से इसका यह भेद है कि स्वरूपासिद्ध हेतु

पक्ष में नहीं रहता। व्याप्यत्वासिद्ध हेतु पक्ष में तो रहता है पर वह साध्य का व्याप्य नहीं रहता।

साध्य का व्याप्य न होना दो तरह से हो सकता है। (१) एक तो इस प्रकार से जिसमें साध्य के साथ हेतु का रहना ठीक ठीक साबित न हुआ हो। जैसे 'शब्द क्षणिक है क्योंकि वह सत् है'- इस अनुमान में 'जो सत् है सो क्षणिक है' यह ठीक ठीक साबित नहीं है, इससे यह नहीं माना जा सकता। (२) दूसरा वह जो साध्य के साथ तो पाया जाता हो पर जिस रूप से अनुमान में कहा गया हो उस रूप से न होकर उसी हेतु में कुछ और विशेषण लगाने पर उस हेतु का साध्य के साथ रहना उसका ठीक माना जा सकता हो। जैसे 'यह पंडित है क्योंकि काशी में रहता है'—'यहां काशी में रहना' 'पंडित होने' के साथ पाया तो जाता है–पर केवल 'काशी में रहना' इसका हेतु नहीं है। 'काशी में रहना और मेहनत से पढ़ना' इसका हेतु कहा जा सकता है। अर्थात् हम ऐसा पाते हैं कि काशी में रह कर जो कोई 'मेहनत से पढ़ता है' वह अवश्य पंडित होता है। इससे 'काशी में रहना' इसमें 'मेहनत से पढ़ना' ऊपर से विशेषण लगा देने से 'पंडित होना' इस साध्य का व्याप्य हेतु होता है।

जिस विशेषण को इस तरह ऊपर से लगाना पड़ता है उसका नाम है 'उपाधि'। इसका लक्षण उदयनाचार्य ने इस प्रकार किया है। 'किसी अनुमान में जो साध्य का व्यापक होकर हेतु का अव्यापक हो वही उस अनुमान में उपाधि है'। जैसे 'यह पंडित है क्योंकि काशी में रहता है' इस अनुमान में 'मेहनत से पढ़ना' एक ऐसी बात है जो साध्य का अर्थात् 'पंडित होने का' व्यापक है। 'जो जो पंडित हैं वे सब मेहनत से पढ़ते हैं'। पर 'काशी में रहना' जो हेतु बताया गया है-इसका व्यापक 'मेहनत से पढ़ना' नहीं है। अर्थात् 'जो काशी में रहता है वह मेहनत से पढ़ता है'- ऐसा नहीं पाया जाता। इससे इस अनुमान में 'मेहनत से पढ़ना' उपाधि हुआ।

कालातीत (कालात्ययापदिष्ट—बाधित)

सूत्र भाष्य और वार्तिक में बतलाया है कि जो हेतु अनुमान में उपन्यस्त होता है वह यदि ऐसा पाया जाय कि जिस समय पर उस हेतु का रहना बतलाया जाता हो, उस समय वह न रहता हो तो वह हेतु 'कालातीत' अर्थात् अपने समय से हटा हुआ कहलाता है। जैसे 'शब्द नित्य है क्योंकि वह संयोग से उत्पन्न होता है'। इस अनुमान में हम देखते हैं कि जिस समय हम शब्द सुनते हैं उस समय उसका किसी से संयोग नहीं पाते। हेतु के बतलाने का समय कौन सा है जिसके बीत जाने से या जिस वक्त हेतु के न रहने से वह 'कालातीत' होता है—इस बात को विचार कर वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि जब किसी बात के विषय में ऐसा सन्देह रहे कि 'यहां ऐसा है या नहीं'—'यहां आग है या नहीं'—तो ऐसी हालत में 'हेतु' पेश किया जाता है—'यहां ऐसा है क्यों कि हम यहां ऐसा हेतु पाते हैं'—'यहां आग जरूर है क्यों कि हम यहां धुआं देखते हैं'। यदि इस तरह का सन्देह ही न रहे, यदि 'ऐसा ही है' या 'ऐसा नहीं है' यह ठीक मालूम हो जाय तो किसी हेतु के कहने का काल (समय) नहीं रहता। ऐसे काल में उपन्यस्त हेतु को 'कालातीत' कहते हैं। पर यहां इतना फरक होगा कि यदि 'ऐसा है' यह ठीक मालूम हो तो वहां ऐसा होने के हेतु का बतलना खाली व्यर्थ कहा जा सकता है, अशुद्ध नहीं। पर जहां 'ऐसा नहीं है' यह ठीक मालूम हो तो 'ऐसा है' इसका हेतु यदि बतलाया जाय तो अशुद्ध ही होगा। जैसे 'आग गरम है' यह हम प्रत्यक्ष जानते हैं। ऐसी हालत में यदि यह अनुमान किया जाय कि 'आग ठंढी है क्यों कि वह चमकती है—जैसे पानी'—तो यह हेतु अशुद्ध जरूर होगा। इसी हेतु को 'कालातीत' या 'कालात्ययापदिष्ट' कहते हैं। ऐसा साफ लक्षण वार्तिक में नहीं पाया जाता। इसको वाचस्पति मिश्र ने साफ़ किया है। ऐसे हेतु का विषय जो बात हमको ठीक मालूम है उसके खिलाफ पड़ता है। इस से नवीनों ने इस का नाम 'बाधित' वा 'बाधित विषय' भी रक्खा है।

सत्प्रतिपक्ष से इसका फरक यह है। सत्प्रतिपक्ष हेतु वह होता है जिसके निसबत ऐसा पाया जाता है कि उस हेतु से 'ऐसा

है' सो साबित होता है-और एक दूसरा हेतु वैसा ही जबरदस्त पाया जाता है जिससे 'ऐसा नहीं है' सो भी सिद्ध होता है। दोनों हेतु इसमें बराबर जबरदस्त रहते हैं। इससे ठीक बात क्या है, इसका सन्देह बना ही रहता है। परन्तु 'बाधित' हेतु के विषय में ऐसा पाया जाता है कि 'ऐसा नहीं है' इसके सबूत में उस हेतु से ज्यादा जबरदस्त दूसरा हेतु रहता है। इससे 'ऐसा नहीं है' सो ठीक ही रहता है और सन्देह नहीं रहता।

हेतु के पांचों दोष यों वर्णित किए गए हैं। अनुमान के पांच अवयव होते हैं। अनुमान के जितने दोष होते हैं सब इन्हीं पांचों हेत्वाभासों में अन्तर्गत हैं या इनसे अलग हैं? अनुमान के पक्ष में दृष्टांत में, साध्य में—सभी में कुछ न कुछ दोष हुआ करते हैं। इन का निरूपण गौतम ने किया या नहीं? यदि किया तो कहां किया? यदि नहीं किया तो क्यों नहीं किया? धर्मोत्तराचार्य ने अपनी न्यायबिन्दुटीका में जैसे हेत्वाभासों का वर्णन किया है वैसे ही दृष्टांताभास का भी किया है। फिर क्या कारण है कि गौतम के सूत्रों में या भाष्य वार्तिक इत्यादि ग्रन्थों में इनकी चर्चा नहीं पाई जाती? जो लोग ऐसी शंका करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि अनुमान के कुल दोषों को गौतम ने हेत्वाभासों ही में नहीं कह दिया है। इनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे अनुमान और तर्क इत्यादि के दोष गौतम ने 'जाति' 'छल' 'निग्रहस्थान' इत्यादि नामों से कहे हैं जिनका निरूपण आगे किया जायगा। फिर 'अन्योन्याश्रय' 'अनवस्था' 'चक्रक' इत्यादि कितने एक दोष तर्क के और भी ग्रन्थों में पाए जाते हैं।

यद्यपि ये सब तर्क, अनुमान इत्यादि के दोष बहुत से बतलाए गए हैं तथापि यदि विचार किया जाय तो अनुमान के जितने अंग हैं हेतु, पक्ष, साध्य दृष्टांत इत्यादि—इनके जितने दोष होंगे लगभग सभी पांचों हेत्वाभासों ही में अन्तर्गत होंगे। अनुमान के तीन प्रधान वाक्य होते हैं-(१) पक्षता, अर्थात पक्ष ऐसा हो जिसमें साध्य है या नहीं यह साबित करना बाकी हो (२) पक्ष धर्मता अर्थात् हेतु पक्ष में है इसका निरूपण (३) जहां जहां हेतु है वहां साध्य है, इसका निरूपण। अब इनमें से पक्षधर्मता में जो भूल होगी

वह हेतु को ही बिगाड़ेगी-इससे पक्षधर्मता के दोष सब हेतुदोष ही होंगे। पक्ष में दो तरह की गलतियां हो सकती हैं। या तो वैसी कोई चीज़ ही न होगी, अथवा अगर होगी भी तो उसमें हेतु का रहना ही असम्भव होगा। यदि ऐसी चीज़ ही न हो तो हेतु का आश्रय नहीं रहेगा और हेतु 'आश्रयासिद्ध' ही होगा। यह दोष हेतु ही का होगा। अगर पक्ष में हेतु नहीं रहेगा तो यह दोष भी हेतु ही का होगा। यह दोष 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास होगा। इसके सिवाय यदि व्याप्ति में दोष होगा तो हेतुही में व्यभिचार दोष होगा। यह 'सव्यभिचार' हेत्वाभास होगा।

आगे चल कर जो निग्रहस्थान, छल, जाति-इत्यादि बतलाए जायंगे-वे सभी किसी न किसी तरह से हेतुदोष ही ठहराए जा सकते हैं। इस तरह अनुमान के कुल दोषों को हेतुदोष ही में अन्तर्गत करने से एक बड़ा उपकार यह होता है कि इनका पकड़ना सुगम हो जाता है। केवल हेतु को अच्छी तरह देखने ही से अनुमान के कुल दोष नज़र पर चढ़ आते हैं। अंगरेज़ी न्याय में किसी अनुमान के विचार में प्रत्येक टर्म के ऊपर विचार करना पड़ता है कि कौन 'टर्म' किस 'प्रेमिस' में 'Distributed' है। फिर प्रत्येक प्रेमिस पर भी विचार करना पड़ता है। फिर प्रेमिसों के साथ Conclusion का सम्बन्ध इत्यादि अनेक विषय पर अनेक विचार करने पर यह समझ सकते हैं कि अनुमान शुद्ध है या अशुद्ध। संस्कृत न्याय में ऐसा नहीं है। केवल हेतु का विचार कर लेने से, इस में पांचों हेत्वाभास के लक्षण घटते हैं या नहीं-इतना ही ठीक कर लेने से, अनुमान का शुद्ध वा अशुद्ध होना साफ मालूम हो जाता है। ग्रीक न्याय और संस्कृत न्याय में एक और बड़ा भेद यह है कि ग्रीक में 'ऐसा है' 'ऐसा नहीं है' इसको दो तरह से परस्पर विरुद्ध रूप से लिखते हैं। इस से 'अन्वयी' वाक्य-'ऐसा है'-और व्यतिरेकी वाक्य-'ऐसा नहीं है'-इनको पृथक् पृथक् मानकर अनेकप्रकार के 'मूड' माने गए हैं। जिस से चार 'फिगर के कुल मूड' के क्रम से अनुमान के दोष का विचार बहुत कठिन हो जाता है और किसी प्रकार के दोष का निश्चय जल्दी नहीं हो सकता। खासँ कर जब पहिले 'फिगर' के रूप में अनुमान को लाना

होता है तब 'आवर्तन'(obversion) करना पड़ता है-जिससे अक्सर वाक्य का मतलब खत्म हो जाता है। संस्कृत में 'अभाव' पद के प्रयोग से कुल बातों को 'ऐसा है' इसी रूप से कर लेने से कुल अनुमान वाक्य इसी 'अन्वयी' रूप से कर लिए जा सकते हैं और वाक्यों के लिखने का भी क्रम ऐसा रक्खा गया है कि किसी तरह का कोई अनुमान क्यों न हो सब एक ही क्रम से लिखा जा सकता है। इससे हेतुदोष का पकड़ना बहुत सुगमता से होता है।

ग्रीक न्याय के मुख्य हेत्वाभास तीन प्रकार के हैं-'अनडिस्ट्रिब्यूटेड मिडल' 'Undistributed middle' जिसमें 'हेतु' किसी वाक्य में अपने कुल रूप से न कहा गया हो-(2)'इलिसिट प्रोसेस आफ़ दी मेजर टर्म' (Illicit Process of the major term)—जिसमें 'साध्य' परामर्शवाक्य में तो कुछ अंश लेकर कहा जाय पर प्रतिज्ञा में अपने सम्पूर्ण रूप से कहा जाय (३) 'इलिसिट प्रोसेस आफ़ दी माइनर टर्म' (Illicit Process of the minor term—जिसमें पक्ष परामर्शवाक्य में अंश लेकर कहा जाय और प्रतिज्ञा में कुल रूप से।

अनडिस्ट्रिब्यूटेड मिडल का उदाहरण है 'कांच सोना नहीं है—क्योंकि वह चमकता है—जो चमकता है सो सोना नहीं है—जैसे हीरा'—इसमें किसी वाक्य में भी 'चमकती हुई चीज़ें' सब नहीं ली गई हैं। संस्कृत न्याय में यह 'साधारण' हेत्वाभास हुआ।

इलिसिट मेजर का उदाहरण—

'जिसको सब लोग मानते हैं वह सत्य है
'ईश्वर को सब लोग नहीं मानते
'इससे ईश्वर सत्य नहीं है'—

यहां पर 'सत्य' सिद्धान्त में अपने कुल रूप से कहा गया है-पर पहिले वाक्यों में केवल अंश रूप से। अर्थात् ' ईश्वर सत्य नहीं है' इसमें कुल सत्य चीज़ अन्तर्गत हैं—तात्पर्य यह है कि 'कोई भी सत्य वस्तु ऐसी नहीं है जो ईश्वर हो सकती हो। किन्तु 'जिसको सब लोग मानते हैं सो सत्य है' यहां पर कुल सत्य वस्तु अन्तर्गत नहीं हैं—क्योंकि बहुत सी 'सत्य वस्तु' ऐसी हैं जिनको लोग जानते भी नहीं हैं'।

संस्कृत न्याय के अनुसार यह 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास हुआ—।

इलिसिट माइनर का उदाहरण

'सब किताबों में अशुद्धियां होती हैं

'सब किताबें आदमी की बनाई होती हैं

'इससे जितनी चीज़ें आदमी की बनाई हैं

वे अशुद्ध हैं'

यहां पर सिद्धान्त में 'मनुष्य की बनाई' कुल चीज़ें अन्तर्गत हैं। पर पहिले वाक्यों में ऐसी कुछ चीज़ें अन्तर्गत नहीं हैं। संस्कृत न्याय में यह 'असिद्ध' हेत्वाभास हुआ। इसी तरह जितनी 'फेलेसी' (Fallacies) ग्रीकन्याय में मानी गई हैं वे ऊपर कहे हुए हेत्वाभासों में अन्तर्गत हैं।

एक चीज़ को देखकर दूसरी चीज़ का जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहा है। इससे कुछ लोगों ने प्रत्यक्ष को भी एक प्रकार का अनुमान बतलाया है। जैसे गौतम सूत्र २।१।३० में कहा है कि जैसे धुआं देख कर आग के ज्ञान का अनुमान होता है वैसे ही जब हमको किसी पेड़ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब समूचे पेड़ के देखने के पहिले हमको पेड़ के हिस्सों का ज्ञान होता है—अर्थात् पेड़ की जड़, उसकी शाखाओं आदि को देख कर फिर समग्र पेड़ का ज्ञान होता है। इस लिये यह ज्ञान भी अनुमान ही हुआ।

इसका उत्तर ३१ सूत्र में कहा है कि यदि यह मान भी लिया जाय तो भी पेड़ के हिस्सों का जो ज्ञान होता है वह अनुमान नहीं हो सकता। वही प्रत्यक्ष ज्ञान होगा। कुछ ऐसा नियम तो है ही नहीं कि समूची चीज़ के ज्ञान ही को प्रत्यक्ष कहें। जितनी, जिस चाल की, जिस तरह की, चीज़ों का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा हो वे सब प्रत्यक्ष ही हैं।

उपमान—तीसरा प्रमाण।

"प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" ऐसा लक्षण उपमान का गौतम सूत्र में किया है। किसी जानी हुई चीज़ के सादृश्य से दूसरी चीज़ का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है उसको उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे घर में देखी हुई गाय के सादृश्य से

किसी दूसरे जानवर का ज्ञान होता है। जंगल में जाने वाले से हमने सुना है कि गाय के सदृश जो जानवर होता है उसको 'गवय' कहते हैं। फिर जंगल में जाकर हमने एक जानवर देखा और यह भी देखा कि यह जानवर गाय के सदृश है। इस पर हमको उस आदमी के वाक्य का स्मरण हुआ कि 'जैसी गाय है वैसा ही गवय होता है', तब हम जान लेते हैं कि यही जानवर गवय है। यह ज्ञान जिससे होता है उसको 'उपमान प्रमाण'-'उपमिति ज्ञान का करण' कहते हैं।

उपमिति ज्ञान का स्वरूप क्या है? नैयायिकों का मत है कि 'जानवर का नाम ऐसा है' 'इसी जानवर का नाम गवय है'-यही उस ज्ञान का रूप है। किसी चीज़ का उसके नाम के साथ सम्बन्ध उपमिति ज्ञान का विषय है। भाष्य में कहा है 'अस्य गवयशब्दः संज्ञा' इतिसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धम्प्रतिपद्यते। वार्तिक में भी कहा है। 'समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः'। इसका वर्णन करते हुए भाष्यकार और वार्तिककार ने कहा है--'किसी विश्वासी पुरुष के मुँह से सुना कि जैसी गऊ होती है वैसा ही गवय होता है। फिर जिस जानवर को गऊ के सदृश देखते हैं उस समय पहले की सुनी हुई बात का स्मरण होता है। फिर यह ज्ञान होता है कि इसी जानवर का नाम गवय है।'

कुछ दार्शनिकों का मत है कि इस ज्ञान में प्रत्यक्ष और शब्द ज्ञान को छोड़ कर और कोई तीसरा ज्ञान नहीं है जिसको हम उपमान कहें। 'गऊ के सदृश गवय होता है,' यह ज्ञान 'शाब्द' या आगम ज्ञान हुआ क्योंकि यह विश्वासपात्र आदमी के मुंह से सुने हुए शब्द से उत्पन्न हुआ है। फिर 'यह जानवर जिसको हम देखते हैं वह गाय के सदृश है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष ही हुआ। क्योंकि इस जानवर को देखने ही से ऐसा ज्ञान होता है और 'गाय के सदृश यह है' सो भी आंख ही से देखा जाता है। इन दोनों ज्ञानों को छोड़ कर और कुछ इस ज्ञान में नहीं है। इससे प्रत्यक्ष और शाब्द ज्ञान को छोड़ कर उपमान में और कुछ नया ज्ञान नहीं है।

इसका उत्तर वार्तिककार यह देते हैं कि इतनी दूर तक जो आपने कहा सो ठीक है। येही दो ज्ञान होते हैं। परंतु इनके अन-

न्तर एक तीसरा ज्ञान यह होता है कि 'इसी जानवर का नाम गवय है'। यह ज्ञान न तो प्रत्यक्ष ही है न अनुमान और न शाब्द। और इसी ज्ञान को उपमान ज्ञान कहा है।

ऊपर की शंका बौद्धों की है। वैशेषिक भी उपमान प्रमाण को अलग नहीं स्वीकार करते। इनके मत से 'उपमान' एक प्रकार का शाब्दज्ञान है (प्रशस्तपादभाष्य पृ० २२०)। कई दार्शनिकों ने उपमान को अनुमान ही बतलाया है। गौतम ने २।१।४४-४६ में इसका समाधान किया है। ४४ सूत्र में शंका की गई है कि जैसे देखे हुए धुएं से बिना देखी हुई आग का अनुमान होता है, वैसेही देखी हुई गाय से बिना देखे गवय का ज्ञान भी अनुमान ही होगा। इस का उत्तर ४५-४६ सूत्र में दिया गया है कि गवय का ज्ञान उपमिति ज्ञान नहीं है। 'इसी जानवर का नाम गवय है' यह ज्ञान उपमिति ज्ञान है और यह ज्ञान किसी तरह अनुमान नहीं कहा जा सकता। नवीन ग्रन्थकारों ने उपमान को इस तरह अनुमान में अन्तर्गत किया है कि जब हमको 'इसी जानवर का नाम गवय है' ऐसा ज्ञान होता है तो ऐसा अनुमान होता है कि 'इसी जानवर का नाम गवय है क्योंकि यह गाय के सदृश है-जो जो जानवर गाय के सदृश होते हैं उनका नाम गवय होता है'। इसका समाधान यह है कि 'जो जो जानवर गाय के सदृश हैं वे सब गवय हैं' यह बात मन में नहीं आती। खाली इतनी ही बात मनमें आती है कि 'हमने अच्छे आदमी के मुंह से सुना था कि गवय जानवर गाय के सदृश होता है'।

एक और शंका उपमान के विरुद्ध बहुत प्राचीन समय से यह भी की जाती है-"दो चीज़ के सादृश्य के ज्ञान से उपमिति ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा कहा गया है। परंतु सादृश्य तीन तरह का होता है (१) एक दम अत्यन्त सादृश्य, जैसे दो गऊ के बीच का सादृश्य (२) कई अंश में सादृश्य, जैसे गाय और भैंस का सादृश्य और (३) किसी एक अंश में सादृश्य, जैसे पर्वत और कंकड़ में। अब इन में से किसी तरह के सादृश्य के ज्ञान से कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। 'जैसी गाय है वैसी गाय होती है' इस ज्ञान से किसी प्रकार का कुछ भी और ज्ञान नहीं हो सकता। 'फिर जैसी गाय है

वैसी ही भैंस है' इससे भी किसी तरह का ज्ञान नहीं हो सकता। और 'जैसा पर्वत है वैसा कंकड़ है' इससे भी किसी तरह का ज्ञान नहीं होता। फिर सादृश्य के ज्ञान से उपमिति ज्ञान होता है, यह कहना बिलकुल अनर्गल है"। यह शंका गौतम सूत्र २। १। ४२ में उठाई गई है और ४३ सूत्र में इसका समाधान किया गया है।

अत्यन्त सादृश्य, कई अंश के सादृश्य वा एक ही अंश के सादृश्य के ज्ञान से उपमिति ज्ञान होता है, ऐसा उपमान के लक्षण में नहीं कहा है। जो सादृश्य प्रसिद्ध है, अच्छी तरह जाना हुआ है, उसी सादृश्य के ज्ञान से उपमिति ज्ञान होता है। कितना ही अत्यन्त सादृश्य क्यों न हो जब तक वह अच्छी तरह जाना न गया हो तब तक वह उपमिति ज्ञान को नहीं पैदा कर सकता। और जो सादृश्य अच्छी तरह जाना गया है वह अत्यन्त हो या कई अंशों में हो या किसी एक ही अंश में क्यों न हो, उस सादृश्य का ज्ञान अवश्य और ज्ञानों को उत्पन्न कर सकता है। किस तरह के सादृश्य को मैं जानता हूं सो प्रकरण से जाना जाता है। शंका में जो सादृश्य बतलाए गए हैं वे भी अवसर अवसर पर अवश्य दूसरे ज्ञानों को उत्पन्न करते हैं। जैसे 'जैसी यह गाय है वैसी यही गाय है' यह जो अत्यन्त सादृश्य है उसके जानने से हमें यह ज्ञान होता है कि इस गाय के ऐसी गाय दूसरी नहीं है। जैसे 'रामरावणयोर्युद्धम् रामरावणयोरिव'। फिर 'जैसा भैंसा होता है वैसा ही यह बैल है' यह जो कई अंश का सादृश्य है उसके ज्ञान से 'यह बैल बड़ा बलवान है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। 'जैसा पर्वत होता है वैसा कंकड़' इस एक अंश के सादृश्य के जानने से हम यह जानते हैं कि जैसे पर्वत सत् पदार्थ है वैसा कंकड़ भी है। इससे प्रसिद्ध जो सादृश्य उसके ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान उपमिति ज्ञान है' यह जो उपमान का लक्षण है सो ठीक है। इसमें कुछ शंका नहीं है।

उपमिति ज्ञान के उत्पन्न होने के पहिले दो ज्ञान आवश्यक होते हैं—'जैसी गाय है वैसा ही गवय होता है' यह एक, और दूसरा 'यह जानवर जिसे मैं देखता हूं गाय के सदृश है'।

उपमिति ज्ञान के करण—साक्षात् कारण—को उपमान कहते हैं। तो

अब यह सन्देह उठता है कि इन दोनों ज्ञानों में से कौन सा ज्ञान उपमिति ज्ञान का साक्षात् कारण है और कौन सा केवल सहकारी है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि 'यह जानवर गाय के सदृश है' यही ज्ञान उपमिति ज्ञान का मुख्य-साक्षात्-कारण है और 'जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है' इस ज्ञान का स्मरण सहकारी है। कुछ लोग कहते हैं (तर्कसंग्रह के 'नोट' में पृ० ३३१) कि प्राचीन नैयायिकों के मत से 'जैसी गाय वैसा ही गवय' इसका स्मरण ही उपमिति ज्ञान का करण है और नवीनों के मत से इसका एक दम उलटा है। पर ऐसा प्राचीन नैयायिकों का मत है, इसका प्रमाण कहीं नहीं मिलता। भाष्य में कहा है-'यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यते...गवा समानधर्ममर्थमुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञा इतिसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते पृ० २१)। वार्तिक में (पृ० ६०) 'आगमाहित-संस्कार-स्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानम् उपमानम्'। तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने कहा है-'पिंडस्याहि गवय शब्द वाच्यतां पुरुषोऽति देशवाक्य स्मरणसहकारिणः प्रत्यक्षात् गवयगतात् गोसादृश्यात् प्रजानन् तेन प्रज्ञाप्यते इति प्रमाणव्यापारः (पृ० १३२)। इन तीनों वाक्यों से स्पष्ट है कि सादृश्य का ज्ञान ही साक्षात् कारण है और वाक्य का स्मरण सहकारी है। फिर किस प्राचीन नैयायिक के मत से वाक्यस्मरण साक्षात् करण और सादृश्य ज्ञान सहकारी माना गया है-सो नहीं समझ पड़ता।

शब्द—चौथा प्रमाण।

गौतम ने कहा है (सूत्र १।१।७) 'आप्तोपदेशः शब्दः'। अर्थात् आप्त पुरुष के उपदेश को 'शब्द' प्रमाण कहते हैं। जितनी चीजें हैं-इन्द्रियों से सम्बद्ध या इन्द्रियों से परोक्ष—उनका ज्ञान जब किसी विश्वस्त पुरुष के वाक्यों से होता है तो इन वाक्यों को 'शब्द' या 'आगम' कहते हैं। और ऐसे ज्ञान को 'शाब्द ज्ञान' कहते हैं।

'आप्त' पुरुष वह है जिसने धर्म की और सब पदार्थों की असलीयत को अच्छी तरह से जान लिया हो। जितनी चीजें हैं-हित, अहित, रखने के लायक-फेंकने के लायक-उन सबों का असल रूप जिसने

निस्सन्देह रूप से जान लिया हो, जो सब जीवों पर दया रखता हो और असल बात के कहने की इच्छा रखता हो वही 'आप्त' पुरुष है। इस लक्षण से यह साफ़ है कि 'आप्त' केवल वेद ही या ऋषि ही या आर्यदेश वासी ही नहीं कहलाते परंतु ऋषि हो-या आर्यावर्त निवासी हो या देशान्तर वासी हो जो कोई सब चीजों को अच्छी तरह जानता हो वही आप्त है। यह बात भाष्य में साफ़ कह दी गई है। किसी आदमी को हम मनमाने 'आप्त' नहीं कह सकते। जिसके विषय में यह पाया जाय कि यह बराबर असली बातों को कहता है वही आदमी 'आप्त' माना जा सकता है।

भाष्य में इतना और भी कहा है कि ऐसे आदमी के भी सभी वाक्य 'आप्तोप देश' नहीं कहे जाते। किन्तु जितने वाक्यों को वह इस इच्छा से कहे कि लोगों को इन चीजों की असलीयत समझ में आ जाय वेही वाक्य 'आप्तोपदेश' कहे जायंगे। वेद का भी कर्ता नैयायिक ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर सब चीज जानता है-उसमें वैसाही कहने की इच्छा का भी अनुमान किया जाता है-इस से वेद भी आप्त का उपदेश है। ईश्वर सब से बढ़ कर आप्त है क्योंकि झूठ कहने के कारण सामान्य मनुष्यों में जितने होते हैं वे ईश्वर में कभी नहीं हो सकते। इससे ईश्वर जो कुछ कहेगा सब सच ही कहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

'आप्तोपदेश' यदि शब्द का लक्षण हुआ तो यह अनुमान या प्रत्यक्ष ही में अन्तगर्त होगा-ऐसी शंका वार्तिक (पृ० ६३) और तात्पर्य (पृ. १६८) में उठाई गई है। "आप्तोपदेश," से क्या तात्पर्य्य है? यदि इसका मतलब यह है कि 'ऐसे लोगों का उपदेश जिन का वचन मिथ्या नहीं है' तो यह बात अनुमान ही से जानी जा सकती है। अर्थात् आप्त पुरुष ऐसा विश्वसनीय है केवल इससे अर्थ का ज्ञान होना असम्भव है। 'यह कहने वाला विश्वसनीय है' केवल इससे वह जिस बात को कहता है उसका ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा ज्ञान केवल किसी प्रकार अनुमान करने से मालूम हो सकता है। अर्थात् अच्छी

तरह जानी हुई बात को जो कहने की इच्छा रखता है और इस इच्छा के अनुसार उसी तरह उस बात को कहता है यह बात जब हम जानते हैं—तब किसी ऐसे आदमी की बात को सुन कर हम ऐसा अनुमान करते हैं। 'यह आदमी बोलता है इससे इस को बात कहने की इच्छा है–इस कहने की इच्छा से कही हुई बात का ज्ञान इसको है'। फिर इस ज्ञान से जिस बात का या जिस चीज़ का यह ज्ञान है उसका अनुमान करते हैं। इस तरह कही हुई चीज़ अनुमान से जानी गई, यह मानना पड़ेगा। इस आशंका से बचने के अभिप्राय से यदि यह कहा जाय कि 'आप्तोपदेश' अर्थात् 'शब्द प्रमाण वह है जिस शब्द से किसी चीज को जान कर फिर उस चीज को वैसी ही पावें,' तो इसमें यह दोष पड़ेगा कि 'यह चीज ठीक वैसी ही है जैसी इन शब्दों से कही गई'–यह ज्ञान प्रत्यक्ष ही होगा।

इस शंका के उत्तर में वार्तिककार कहते हैं कि 'आप्तोपदेश' शब्द, का तात्पर्य यह नहीं है कि 'शब्द ऐसा होना चाहिए जिसकी सत्यता बोलने वाले की विश्वसनीयता से सिद्ध हो, (जिस हालत में यह शब्द ज्ञान अनुमान हो जाता है)–न उस से यही तात्पर्य है कि 'शब्द वह है जिससे कही हुई चीज़ ठीक वैसी ही पाई जाय' (जिस हालत में यह प्रत्यक्ष हो जाता है)। 'उपदेश' पद का अर्थ यहां है 'शब्द'–जिससे कोई चीज़ कही जाय, बतलाई जाय–वह चीज़ चाहे दृष्ट हो वा अदृष्ट। विश्वस्त पुरुष के वाक्य को सुन कर सुनने वाले के मन में ऐसा ज्ञान होता है 'इसने जो शब्द कहे हैं उनसे उन शब्दों के अर्थ के स्मरण के अनन्तर मुझे उन अर्थों का ज्ञान हो रहा है' यही ज्ञान 'शब्द ज्ञान' कहलाता है और जिन शब्दों से यह ज्ञान होता है उसको 'शब्द प्रमाण', 'आगम' इत्यादि पदों से कहते हैं।

'उपदेश' वह है जिससे अथवा जिसके द्वारा कोई बात कही जाय। 'ऐसा करो' ऐसा जो वाक्य कहे उसी को मामूली व्यवहार में 'उपदेश' कहते हैं। पर यहां पर ऐसा नहीं है। ऐसा हो तो वेद में या लौकिक व्यवहार में जिन वाक्यों में चीजों के वर्णन

पाए जाते हैं वे 'आप्तोपदेश' नहीं कहला सकते। इससे 'वाक्य का ज्ञान' और 'वाक्यार्थ का ज्ञान' दोनों को 'उपदेश' कह सकते हैं। आप्त पुरुष के कहे हुए वाक्य का ज्ञान अथवा उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान-शब्द प्रमाण—शब्दज्ञान का कारण है। जब वाक्यज्ञान को प्रमाण—कारण मानेंगे तो अर्थज्ञान उसका फल होगा। और जब अर्थज्ञान प्रमाण होगा तो बतलाई हुई चीज़ का ग्रहण या त्याग ज्ञान का फल होगा।

आप्तोपदेश दो प्रकार का होता है। दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ (गौतम सूत्र २।१।) । प्रत्यक्ष जानी हुई बातों को जो बतलावे उसे 'दृष्टार्थ' कहते हैं और प्रत्यक्ष जानने के योग्य जो चीज़ नहीं है' जिनका ज्ञान अनुमान से हो सकता है, ऐसी चीज़ों को जो वाक्य बतलावे उसे 'अदृष्टार्थ' कहते हैं। जैसे स्वर्ग याग अपूर्व इत्यादि वस्तु हैं इस बात को हम खाली अनुमान से जान सकते हैं। ये चीजें ज़रूर होंगी क्योंकि ये वेद में कही पाई जाती हैं और वेद आप्त ईश्वर का बनाया है। दृष्टार्थ मामूली आदमियों का भी हो सकता है, पर अदृष्टार्थ वाक्य यथार्थ केवल ईश्वर काही।

ऐसा अर्थ 'दृष्टार्थ 'अदृष्टार्थ' का भाष्यकार ने किया है। वार्तिक में कहा है कि दृष्टार्थ शब्द वह है जिसका वक्ता कहीं हुई चीज़ को देख कर दूसरों को अल्पज्ञ जानकर उनके उपकारार्थ कहता है। और 'अदृष्टार्थ' शब्द वह है जिसका वक्ता कही हुई चीज़ को देख कर नहीं किन्तु अनुमान या और प्रमाणों से जान कर कहता है। इस व्याख्या से मामूली आदमी के भी शब्द 'दृष्टार्थ' 'अदृष्टार्थ' दोनों तरह के हो सकते हैं।

आप्त पुरुष का उपदेश—विश्वसनीय पुरुष के कहे हुए वाक्य को 'शब्द प्रमाण' कहा है। 'आप्त' क्या है सो ऊपर कह आए हैं। अब 'वाक्य' क्या है सो विचार करते हैं। कई पदों के मिलने से वाक्य बनता है। पर कोई किसी तरह के पदों के इकट्ठा होने ही से वाक्य नहीं होता।

वाक्य का वर्णन वार्तिक (पृ० १७) में है-'जहां पर कई पद हैं-और वे ऐसे सम्बद्ध हैं कि जब उनका उच्चारण होता है तब अन्त के पद का अर्थ मालूम होने पर उसके साथ ही

पहले कहे हुए पदों के अर्थ का स्मरण होता है-फिर सब पदों के अर्थ का स्मरण एक साथ होकर सभों का मिला हुआ एक अर्थ भासित होता है—ऐसा ज्ञान जिन पदों से होता है उन्हीं पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। जैसे 'किताब पढ़ो' इस में जब 'पढ़ो' पद का अर्थ मालूम हुआ तब 'किताब' पद के अर्थ का भी स्मरण होता है। फिर 'किताब' और 'पढ़ो' इन दोनों पदों के अर्थ का साथ साथ मिला हुआ ऐसा एक अर्थ भासित होता है कि 'किताब का पढ़ना मुझसे कहा जाता है'—यही 'किताब' पद के अर्थ का 'पढ़ो' पद के अर्थ से विशिष्ट—मिला हुआ—ज्ञान हुआ। इस विशिष्ट ज्ञान का कारण 'किताब'—'पढ़ो' इन दोनों पद का समूह है—इससे यह वाक्य हुआ।

जितने पदों का समूह वाक्य कहलाता है वे पद ऐसे होने चाहिये जिससे उन में परस्पर सम्बन्ध रहे। 'हाथी, घोड़ा, बैल, पत्थर, कंकड़' ये पद भी जब साथ उच्चरित होंगे तो सम्भव है कि 'कंकड़' पद के अर्थ के ज्ञान के बाद 'हाथी' इत्यादि पदों के अर्थ का भी स्मरण हो। 'हाथी' पद के अर्थ के साथ मिला हुआ 'कंकड़' पद के अर्थ का ज्ञान होगा इसमें कोई भी कारण नहीं है। यदि 'हाथी' और 'कंकड़' पद के अर्थों में कोई सम्बन्ध ऐसा होता जिसके द्वारा एक के ज्ञान से दूसरे का स्मरण अवश्य होता तभी दोनों का मिला हुआ ज्ञान हो सकता।

जो सम्बन्ध पदों में आवश्यक हैं वे तीन प्रकार के माने गए हैं—आकांक्षा, योग्यता, सान्निधि (तात्पर्यटीका पृ० ३८)। इसी से नवीन नैयायिकों ने वाक्य का वर्णन यों किया है—'परस्पर आकांक्षा योग्यता सन्निधि इन तीन सम्बन्धों को रखते हुए पदों के समूह को वाक्य कहते हैं' (तर्कभाषा पृ० ६-६-७०)। जब तक ये तीनों सम्बन्ध नहीं हों तब तक किसी पदसमूह से किसी एक बात का ज्ञान नहीं हो सकता। 'किताब पढ़ो' यहां इन दोनों पदों में ये तीनों सम्बन्ध हैं। इसी से 'किताब पढ़ने के लिये मुझसे कहा जाता है', इस एक बात का ज्ञान इन दोनों पदों के सुनने से होता है। 'हाथी, घोड़ा, कंकड़, पत्थर' इन पदों में ये तीनों सम्बन्ध नहीं हैं। इससे इन पदों से किसी एक बात का ज्ञान नहीं होता।

जब दो पदों में ऐसा सम्बन्ध हो कि एक के बिना दूसरे में कोई कमी पाई जाय—जिससे वह किसी सम्बद्ध बात को न कह सके—तो इसी सम्बन्ध का नाम 'आकांक्षा' है। जैसे 'किताब पढ़ो' यहां इन पदों का ऐसा सम्बन्ध है। क्योंकि जब तक 'पढ़ो' पद नहीं कहा जाता तब तक यह नहीं मालूम हो सकता कि किताब को क्या करें—'किताब' पद से किसी सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह जब तक 'किताब' पद न कहें तब तक 'पढ़ो' पद से किसी सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता—क्या पढ़ा जाय, यह नहीं मालूम होता। इससे इन दोनों पदों में कोई ऐसी कमी है जो कि एक की दूसरे ही से पूरी हो सकती है। 'किताब' का क्या करना है, सो किसी क्रिया पद ही से मालूम हो सकता है। इसी तरह क्या पढ़ा जाय सो किसी कर्मकारक पद से ही मालूम हो सकता है। इससे इन दोनों में परस्पर 'आकांक्षा' है। 'हाथी-घोड़ा-कंकड़-पत्थर' इसमें 'हाथी' और 'घोड़ा' इन पदों के बीच कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है—हाथी को क्या करना है सो 'घोड़ा' पद से नहीं मालूम हो सकता। इसी तरह और पदों में भी समझना चाहिए। इसी से इन पदों में 'आकांक्षा' नहीं है।

दूसरा सम्बन्ध है 'योग्यता'। दोनों पद ऐसे होने चाहिये जिससे एक दूसरे के अर्थ में किसी तरह का विरोध न हो। अर्थात् दोनों के अर्थ जब मिलाए जायं तो कोई असम्भव बात नहीं कहा जाय। दोनों मिलकर ऐसी बात कहें जो कि हो सकती हो। जैसे 'पानी ठंढा है' यहां पर पानी पद का ऐसा सम्बन्ध 'ठंढा' पद से है। पर 'आग शीतल है' यहां पर 'आग' पद का अर्थ जब 'शीतल' पद के अर्थ से मिलाया जाता है तो 'आग का शीतल होना' ऐसा मिला हुआ अर्थ कहा जाता है—पर हम जानते हैं कि ऐसा होना सम्भव नहीं है। इससे 'आग' और 'शीतल' इन दोनों पदों में 'योग्यता' सम्बन्ध नहीं हो सकता है। नैयायिकों के मत से 'आग शीतल है' यह वाक्य असम्भव अर्थ को कहता है ऐसा नहीं—इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता है। पर यहां यह विचारने की बात है कि जब तक 'आग शीतल है' इस वाक्य से कोई अर्थ नहीं मालूम होगा तब तक इन पदों से विशिष्ट

अर्थ जो कहा गया सो असम्भव है ऐसा कैसे जान पड़ेगा ?

तीसरा सम्बन्ध है 'सन्निधि'। जिन दो पदों से कोई एक बात कही जाय उनका उच्चारण साथ साथ होना चाहिये। ऐसा नहीं कि 'किताब' पद का उच्चारण सवेरे किया जाय और 'पढ़ो' पद का उच्चारण शाम को। ऐसे अलग अलग उच्चारण करने से दोनों के अर्थ का साथ मिला हुआ स्मरण नहीं हो सकता और इसी से मिले हुए अर्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। यदि दोनों पद लगातार कहे जांय तो दोनों के अर्थों का मिला हुआ ज्ञान यह होता है कि 'किताब का पढ़ना' कहा जाता है।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक। नैयायिकों के मत से समस्त वेद ईश्वर का रचा हुआ है और ईश्वर सदा 'आप्त', विश्वासपात्र, सब चीजों की असलीयत जानने वाला है। झूठ कहने की इच्छा उसको कभी क्यों होगी। इससे उसके कहे हुए जितने वाक्य हैं सभी सत्य और विश्वसनीय हैं। लौकिक वाक्यों में ऐसा नहीं है। वे तभी सत्य माने जा सकेंगे जब उनका वक्ता प्रामाणिक समझा जायगा। जब तक किसी आदमी को हम नहीं जानते कि यह सच्चा है या झूठा—जिस बात को यह कह रहा है उसे जान कर कहता है या बिना जाने ही कुछ बक रहा है—तब तक उसके वाक्य में मेरा विश्वास नहीं हो सकता।

वेदवाक्य सर्वथा विश्वसनीय है, ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है। गौतमसूत्र २।१।५७ में वेद के प्रामाण्य के विषय में शंका की गई है। वेद प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें कई सरासर झूठी बातें पाई जाती हैं, कई परस्पर विरुद्ध पाई जाती हैं और कई जगह बातें दोबारा कही गई हैं। 'पुत्रकामः पुत्रेष्टया यजेत' 'जिसको पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि करे' अर्थात् पुत्रेष्टि यज्ञ करने से पुत्र होता है ऐसा वाक्य वेद में पाया जाता है। परन्तु हम देखते हैं कि कई आदमी पुत्रेष्टि करते हैं पर उनको पुत्र नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि यह वेदवाक्य झूठ है। इस वाक्य को झूठ पाकर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि जैसे पुत्रेष्टि से पुत्र नहीं होता वैसे ही अग्निहोत्र से स्वर्ग भी नहीं होगा। इससे जितने यज्ञ वर्णन करने वाले वाक्य हैं सब झूठ ठहरे।

फिर अग्निहोत्र के प्रकरण में वाक्य है 'उदिते जुहोति' 'सूर्य के उदय होने पर हवन करना', कुछ आगे चल कर कहा है 'अनुदिते जुहोति' 'जब तक सूर्य का उदय न हुआ हो तभी हवन करना'। ये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध हैं। इससे दोनों ठीक नहीं हो सकते। दोनों में कौन सा ठीक है सो नहीं कहा जा सकता। इससे दोनों के ठीक होने में सन्देह रहेगा। फिर 'त्रिः प्रथमामाह' 'तीन दफे पहिला मंत्र कहना' ऐसा कहा है। फिर कहा है— 'त्रिरुत्तमामाह' 'अन्तिम मंत्र को तीन बार कहना'। इस तरह फिर फिर एकही मंत्र को कहना, बार बार एकही वाक्य को व्यर्थ बकना, पागलों का काम है! इससे ऐसे वाक्यों के सत्य होने में वैसाही सन्देह होता जैसे पागल के वाक्य में।

इन शंकाओं का समाधान सूत्र २।१।५८ में किया गया है। पुत्रेष्टि याग करने से पुत्र नहीं उत्पन्न होता है इससे यह नहीं सिद्ध होता कि 'पुत्रेष्टि करने से पुत्र होता है' यह वेदवाक्य झूठा है। किसी काम से ठीक ठीक फल होगा इसमें काम करने वाला निर्दोष होना चाहिये। आदि से अन्त तक काम अच्छी तरह होना चाहिये। फिर काम में जितनी चीजें लगाई जाती हैं वे निर्दोष होनी चाहिये। ये सब सामान निर्दोष जुट जायंगे सो बड़ा कठिन है। कुछ न कुछ कमी किसी बात में, किसी अंग में रहही जाती है। इसी कारण से काम सफल नहीं होता। जैसे पुत्रेष्टि याग में और कई छोटे छोटे याग किये जाते हैं, जैसे समिद् याग इत्यादि, इनका अनुष्ठान यदि न किया गया तो इष्टि में ही न्यूनता हुई। इसी तरह याग करने वाला यदि मूर्ख हो या दुराचारी हो तो उसका याग सफल कैसे होगा। या याग करने वाले की पत्नी यदि वन्ध्या हो तो पुत्र कहां से होगा। यही यागकर्ता की न्यूनता हुई। फिर याग के साधन हैं द्रव्य, मंत्र इत्यादि। यदि घृतादि द्रव्य में किसी तरह की अपवित्रता आजाय, जैसी शुद्धि उनकी वेद में बतलाई गई है वैसी न हो सके, या मंत्र के उच्चारण में कुछ हानि होजाय, स्वर में, मात्राओं में, अक्षर में, किसी तरह कि त्रुटि होजाय, तो ये त्रुटियां कर्म के साधन में हुईं। जहां ये सब दोष एक भी न पाए जाएं वहां यदि पुत्रेष्टि से पुत्र न हो, तो वेद पर कुछ आक्षेप किया भी

जा सकता है। परन्तु इन यागों के प्रसंग में इतने नियम बतलाए गए हैं कि किसी याग का सर्वांश निर्दोष होना कठिन है। इससे वेद-वाक्य मिथ्या हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

फिर 'उदिते जुहोति' 'अनुदिते जुहोति' इन वाक्यों में जो परस्पर विरोध बतलाया गया है सो विचार करने से इन दोनों वाक्यों में किसी तरह का विरोध नहीं पाया जाता है। यदि 'उदिते जुहोति' इस वाक्य का ऐसा अर्थ होता कि उदय होते ही हवन करना, उदय होने के पहिले नहीं' तो दोनों वाक्यों में विरोध अवश्य होता। वेद में कहा है 'अग्निहोत्र होम करना' फिर इसके सम्बन्ध में कहा है–' उदय होने पर हवन करना ' ' उदय होने के पहिले हवन करना '—इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र का होम जो किया जाय वह या तो प्रति दिन उदय से पहिले ही किया जाय या प्रति-दिन उदय के बाद ही किया जाय-एक दिन पहिले दूसरे दिन पीछे ऐसा नहीं '। ऐसा ही तात्पर्य इन वाक्यों का है, सो इस से मालूम होता है कि आगे चल कर वेद में कहा है कि ' एक काल-उदय से पहिले या उदय के बाद-में हवन आरम्भ करके फिर यदि उस काल का भेद किया जाय तो वह होम कुत्ते को प्राप्त होता है '। इस से यह स्पष्ट है कि कई काल होम के लिये कहे हैं–उन में से किसी एक का ग्रहण करके उसी पर जन्म भर स्थिर रहना चाहिए। (गौ० सू० २।१।५६)।

तीसरा दोष ' पुनरुक्तता ' बतलाया गया है। ' पहिले मंत्र को तीन बार कहना ' ' अन्तिम मंत्र को तीन बार कहना '—ये वाक्य सामिधेनी मंत्र के सम्बन्ध में पाये जाते हैं। ग्यारह मंत्र मिल कर सामिधेनी मंत्र कहलाते हैं। इन के प्रसंग में ऐसा कहा है कि 'पंच-दशसामिधेनी मंत्र से शत्रु का नाश करना'। ये पन्द्रह मंत्र सामिधेनी में कहां से आवेंगे, यदि कुछ मंत्र दो बार न कहे जांय ? इसी से कहा है कि–आदि और अन्त के मंत्रों को तीन तीन बार कहना–जिस से चार मंत्र बढ़ जाते हैं और ग्यारह की जगह पन्द्रह मंत्र हो जाते हैं। इस तरह ' पंचदश सामिधेनी ' पूरी हो जाती है।

इन सब शंकाओं का उत्तर देकर ६१ सूत्र में सिद्धान्त किया

है कि वेदवाक्य उसी तरह प्रमाण है जैसे संसार में मनुष्यों के वाक्य। अर्थात् जैसे मामूली मनुष्यों में से जो आदमी विश्वास पात्र है उसके वाक्य प्रमाण माने जाते हैं उसी तरह वेदवाक्य भी प्रमाण माने जा सकते हैं क्योंकि इनका कहने वाला ईश्वर है जो परम विश्वासपात्र हैं।

कई आधुनिक ग्रन्थकारों ने स्मृति-इतिहास-पुराण-इत्यादि को भी 'वैदिक वाक्य' में ही अन्तर्गत कर लिया है। किन्तु प्राचीन नैयायिकों का ऐसा मत नहीं है। ६१ सूत्र के भाष्य में कहा है-' वेद के वाक्य वैसे ही प्रमाणिक हैं जैसे लोक में-अर्थात् जैसे लौकिक वाक्य। इसकी व्याख्या में वार्तिक में कहा है—' वेदवाक्य प्रमाण अवश्य हैं-क्योंकि इनका अर्थ स्पष्ट मालूम पड़ता है-जैसे मनु आदि के वाक्य में। इससे यह स्पष्ट होता है कि वार्तिककार ने मन्वादि स्मृतियों को लौकिक वाक्य ही माना है। प्रशस्तपाद ने भी (पृ.२१३) स्मृति' को 'श्रुति' से अलग माना है।

वेदवाक्य को ब्राह्मण वाक्य भी कहते हैं और सूत्र २।१।६२ में इनके तीन भेद बतलाये हैं। विधि वाक्य, अर्थवाद वाक्य, अनुवाद वाक्य 'ऐसा करो' अथवा 'ऐसा मत करो' यह जिस वाक्य में कहा जाय उसको 'विधिवाक्य' कहते हैं (सू० ६३) जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् 'अग्निहोत्र याग करो' 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' 'उदय होते हुये सूर्य की ओर मत देखो'।

अर्थवाद वाक्य चार प्रकार के होते हैं। (१) जिस काम का करना विधिवाक्य से कहा गया है उस काम की प्रशंसा जिस वाक्य में पाई जाती है उसको 'स्तुति'-अर्थवाद कहते हैं। 'सर्वजित् याग करना' ऐसा विधि वाक्य है। इस सर्वजित् की प्रशंसा में कहा है कि इस याग के करने से सब वस्तु लब्ध होती हैं और सब जीते जाते हैं। (२) जिस काम का न करना विधिवाक्य में कहा गया है उस काम की निन्दा जिस वाक्य में हो उसको 'निन्दा-अर्थ वाद' कहते हैं। 'ज्योतिष्टोम याग के किये विना दूसरा याग नहीं करना' ऐसा विधिवाक्य में कहा है। फिर कहा है 'विना ज्योतिष्टोम किये जो कोई दूसरा याग करे तो वह गड़हे में गिरे'। (३) जिस काम का करना विधिवाक्य में कहा है उससे दूसरी

तरह उस काम को यदि और लोग करते हों तो यह जिस वाक्य में बतलाया जाय—'ऐसा इस काम को करना—फलाने इस काम को दूसरी तरह करते हैं सो ठीक नहीं है,'– इस वाक्य को 'परकृति–अर्थवाद' कहते हैं। जैसे 'वपा होम करके फिर पृषदाज्य का होम करना' ऐसा विधिवाक्य में कहा है। इसी के सम्बन्ध में कहा है—'चरकाध्वर्यु लोग पहिले पृषदाज्य ही का होम करते हैं'। इससे विधिवाक्य में बतलाए हुए काम की तारीफ सूचित होती है। (४) जिस काम का करना विधिवाक्य में कहा है—उसके समर्थन में अकसर ऐसा कहा जाता है कि 'पुराने ज़माने में लोग ऐसा ही करते थे' ऐसा जिस वाक्य में कहा जाय उसको 'पुराकल्प—अर्थवाद' कहते हैं। इससे भी विधिवाक्य में कहे हुए काम की प्रशंसा सूचित होती है। जैसे 'बहिष्पवमान सामस्तोम का गान करना' इसके समर्थन में कहा है 'पुराने जमाने में ब्राह्मणों ने इसी को गाया' इत्यादि। इससे यह साफ़ मालूम होता है कि विधिवाक्य से सम्बद्ध होने ही से अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य है—जैसा मीमांसकों ने माना है।

विधिवाक्य से जो बात कही गई है वही बात फिर भी किसी मतलब से कही जाती है—इन्हीं वाक्यों को 'अनुवाद वाक्य' कहते हैं। एक ही बात का फिर कहना कई मतलबों से हो सकता है' (१) उसी बात की तारीफ़ करने के लिये—जैसे 'अश्वमेध याग करना' ऐसा कहने के बाद फिर कहा है 'जो अश्वमेध यज्ञ करता है सो कुल पापों से मुक्त होता है'। यहां 'जो अश्वमेध याग करता है' यह वाक्य 'अश्वमेध याग करो' इस विधिवाक्य का 'अनुवाद' हुआ। (२) इसी तरह निन्दा करने के मतलब से भी अनुवाद होता है। (३) विधिवाक्य में जिस काम का करना कहा गया है उस काम के करने के लिये जितनी बातों का जानना आवश्यक है वे सब सर्वत्र उसी वाक्य से नहीं ज्ञात होतीं—इनके बतलाने के लिये दूसरे वाक्यों की अपेक्षा होती है—ऐसी हालत में इन दूसरे वाक्यों का पहिले वाक्य से जो सम्बन्ध है इस को सूचित करने के लिये इन दूसरे वाक्यों में पहिले वाक्य में कहे हुए का फिर से कहना आवश्यक होता है—यही

फिर से कहना 'अनुवाद' कहलाता है। जैसे 'अष्टाकपाल पुरोडाश को आग्नेय बनाना' इत्यादि वाक्यों में आग्नेय आदि छ याग पूर्णमासी और अमावास्या के दिन करने को कहे गये हैं। पर यह नहीं कहा गया है कि इन यागों के करने से क्या लाभ होता है। इसको बतलाने के लिये दूसरा वाक्य है—जो कोई पौर्णमासी याग करता है–जो कोई अमावास्या याग करता है–उसको ये ये लाभ होते हैं'। यहां पर 'पौर्णमासी और अमावास्या' याग फिर से कहे गये हैं।

'अनुवाद' और 'पुनरुक्त' में यह भेद है कि जो कोई बात किसी मतलब से दोबारा कही जाय तो वह दोबारा कहना 'अनुवाद' कहलाता है। परंतु यदि व्यर्थ बिना मतलब के दोबारा कही जाय तो वह 'पुनरुक्त' कहलाता है।

येही तीन भेद लौकिक वाक्यों में भी पाये जाते हैं। 'भात पकाओ'–यह विधि वाक्य हुआ। 'अन्न के खाने से बल होता है'—यह भात पकाने की प्रशंसा 'अर्थवाद' है। 'भात पकाओ भात पकाओ' यहां 'जल्दी पकाओ' इस मतलब से दोबारा कहा गया–यह 'अनुवाद' हुआ।

सूत्र २।१।६८ में यह शंका उठाई गई है कि–हम कैसे जान सकते हैं कि वेद का वक्ता ईश्वर विश्वासपात्र है। लौकिक वाक्यों में तो देखते हैं कि "वह आदमी अच्छा पंडित है अतः जो बात वह कह रहा है उसको भली भांति जानता है–इसका स्वभाव हम ऐसा देखते हैं कि इसको लोगों को असल बात बतलाने की इच्छा है"–इत्यादि समझ कर हम विचार कर लेते हैं कि यह आदमी विश्वासपात्र है—इसका वाक्य प्रमाण है। वेदवाक्यों के कहने वालों को तो हमने कभी देखा ही नहीं, फिर वह "आप्त" है या नहीं यह हम कैसे समझ सकते हैं। इसका समाधान यह किया है कि—लौकिक वाक्यों में भी हमने जिस आदमी के वाक्यों को दो चार दस बार सच पाया उस आदमी को हम 'आप्त' मानने लगते हैं। इसी तरह वेदों में भी आयुर्वेद में कहे हुए उपदेशों के अनुसार जब हम काम करते हैं तो उनका फल जैसा कहा है वैसा ही पाते हैं। अर्थात् हरीतकी के सेवन से मलरोध नहीं रहता इसको बार बार

जांच कर सत्य मानते हैं । इसी तरह आयुर्वेद के वाक्यों को सच पाकर 'इनका कहने वाला सत्य वक्ता है —इसमें आप्त पुरुष के कुछ लक्षण पाए जाते हैं' यह हम जान लेते हैं । फिर इस पुरुष की कही हुई कुल बातों पर हमारा विश्वास हो जाता है ।

नैयायिकों ने वेद को ईश्वर का बनाया हुआ माना है । और ईश्वर में आप्त के सब लक्षण हैं—वह सब पदार्थों का ज्ञान रखता है-उसको भूतों पर दया है और मनुष्यों के उपकार के लिये ठीक ठीक उपदेश करने की इच्छा है । इससे उनके वाक्य अवश्य प्रमाण होंगे । जो लोग ईश्वर को नहीं मानते वे वेदों को अपौरुषेय-किसी पुरुष का बनाया नहीं-मानते हैं । इसी से उनके मत में वेद नित्य है । मीमांसकों के मत से वेद ही नहीं-शब्द मात्र-कुल शब्द-उनके अर्थ-सब ही नित्य हैं । इसका प्रतिपादन मीमांसादर्शन के प्रकरण में किया जायगा ।

आप्तोपदेश को 'आगम' कहते हैं । इसी से वेद को आगम भी कहा है । ऋषभदेव, बुद्धदेव, प्रभृति के वाक्य भी 'आगम' माने जाते हैं । वाचस्पति मिश्र ने इन आगमों से वेद में अधिक विश्वास योग्यता बतलाई है (तात्पर्य पृ० ३००) । उनका कहना है कि वेद उस ईश्वर का बनाया है जो संसार की रचना करने वाला है । जिसको इतनी बड़ी शक्ति होगी उसी में 'आप्त' के पूरे लक्षण पाये जा सकते हैं । ऋषभदेव, बुद्धदेव बड़े विद्वान् कारुणिक सदुपदेष्टा थे तो सही परन्तु वे संसार के रचयिता न थे । इससे उनके कहे हुए आगम अपने आप प्रमाण नहीं माने जा सकते । सांसारिक मामूली पुरुषों में जब हम कुछ आप्त के लक्षण पा लेते हैं तब उनकी बातों को प्रमाण मानते हैं । इसी तरह ऋषभदेव बुद्धदेव के वाक्यों के प्रसंग जब हम इनमें आप्त के लक्षण पायेंगे तभी इनके वाक्यों को प्रमाण मान सकते हैं । वेद में ऐसा नहीं है । 'वेद में यह बात है' केवल इतना देखने ही से 'यह अवश्य प्रमाण है' ऐसा मानना पड़ता है ।

जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में (पृ० २६६) ऐसा नहीं माना है । उनका मत है कि जितने आगम हैं सबका कर्ता ईश्वर ही है । ऋषभदेव बुद्ध देव भी ईश्वर ही के अवतार हैं । भेद इतना ही है कि

वेद में जो उपदेश हैं वे सकल साधारण समस्त संसारभर के आदमियों के उपकारार्थ हैं और जैन बौद्ध आगम में जो उपदेश हैं उन्हें कुछ चुने हुए लोगों के उपकार के हेतु ईश्वर ने रचा। जब जैसे लोगों को जैसे उपदेश की आवश्यकता देख पड़ती है तब ईश्वर उनके हेतु वैसा ही उपदेश करता है। इनके मत से और आगमों के प्रति वेद की अधिकता इतनी ही है की वेद से अधिक मनुष्यों का उपकार होता है और बौद्ध जैन आगमों से कम लोगों का। यदि जयन्तभट्ट आज कल होते तो प्रायः बौद्ध ही आगम को सब से श्रेष्ठ मानते। क्योंकि आजकल संसार में उसी आगम के मानने वालों की संख्या अधिक पाई जाती है।

आप्तोपदेश शब्द है। इस उपदेश से उत्पन्न ज्ञान को 'शब्दज्ञान' कहते हैं। अर्थात् आप्त पुरुष के कहे हुए वाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'शब्दज्ञान' होता है। इस ज्ञान का साक्षात् कारण—करण—क्या है? प्राचीन नैयायिकों के मत से वाक्य ही इस ज्ञान का करण है।

वाक्य का अर्थ क्या है इस विषय में बहुत मतभेद पाया जाता है। मीमांसकों के मत से नियोग या प्रेरणा वाक्यार्थ है—अर्थात् 'ऐसा करो' 'ऐसा मत करो' यही बात सब वाक्यों से कही जाती है। जिनमें ऐसा साफ साफ न कहा गया हो वह भी किसी दूसरे उस अर्थ वाले वाक्य से सम्बन्ध रखते हैं। इस मत की व्याख्या मीमांसाप्रकरण में की जायगी। नैयायिकों के मत से कई एक पदों के अर्थ जब एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रखते हैं तब यही परस्पर सम्बद्ध पदों के अर्थ वाक्यार्थ कहलाते हैं। जैसे 'कपड़ा लाओ' यहां 'कपड़ा' पद से कहा हुआ कपड़ा, और 'लाओ' शब्द से कहा हुआ लाना—ये दोनों अर्थ—कपड़ा और लाना क्रिया—जब परस्पर सम्बद्ध होते हैं तब यही वाक्य कहलाता है।

वाक्यार्थ का ज्ञान कैसे होता है? परस्पर सम्बद्ध पदों के अर्थ ही को नैयायिकों ने वाक्यार्थ माना है। पर इसपर यह सन्देह उपस्थित होता है कि–इस वाक्य का ज्ञान पदों से होता है या समस्त वाक्य ही से। न्यायमंजरी

(पृ ३६७) में स्पष्ट लिखा है कि वाक्यार्थ ज्ञान का कारण वाक्य है जैसे पदार्थ ज्ञान का कारण पद है । किन्तु जैसे पद के अर्थ के जानने के समय हम एक एक कर पद के अक्षरों को सुनकर एक एक का स्मरण रखते हुए अन्त का अक्षर सुन कर समस्त पद के अर्थ के ज्ञान को प्राप्त करते हैं इसी तरह वाक्य में भी होता है। जब कोई वाक्य कहा जाता है उसमें कई पद होते हैं । जैसे 'कपड़ा लाओ' यहां दो पद सुने जाते हैं । पहिले 'कपड़ा' पद सुना गया फिर इसका क्या अर्थ है सो स्मरण हुआ यह स्मरण जब तक मनमें है तभी तक 'लाओ' पद के अर्थ का भी स्मरण हुआ फिर इन दोनों पदों में आकांक्षा योग्यता सन्निधि—इन तान सम्बन्धों के द्वारा दोनों पदों के अर्थ का स्मरण जब तक मनमें है तभी तक दोनों अर्थों के सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है । यही क्रम वाक्यार्थ के जानने का है । इस प्रकार पद के अर्थ का ज्ञान होता है सो न्यायवार्तिक (३.२.५५) में कहा है—'पूर्व पूर्व अक्षर के स्मरण की सहायता से अन्तके अक्षर के ज्ञान से पदके अर्थका ज्ञान होता है' ।

इस क्रम से जब वाक्यार्थज्ञान होता है तब साक्षात् कारण तो मूल ज्ञान में वाक्य हुआ । परन्तु वाक्य में जो पद हैं उन्हीं को वाक्यार्थज्ञान का मूल कारण मानना चाहिये । एक एक कर अक्षरों को सुनकर पद का ज्ञान होता है । फिर एक एक कर पदों को सुनकर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है ।

परन्तु वर्णों का स्वयं अपना कुछ अर्थ नहीं होता है इससे पदों ही को वाक्यार्थ के ज्ञान का कारण माना है । इससे पदों में दो तरह की शक्ति मानी गई है । एक अभिधात्री शक्ति जिससे पद अपने अर्थ को बोधित करता है । दूसरी तात्पर्यशक्ति जिससे कई पद के अर्थों का परस्पर सम्बन्ध बोधित होता है । यही तात्पर्य-शक्ति वाक्यार्थ ज्ञान का कारण होता है (न्यायमंजरी. पृ. ३८६,४०४) ।

पदों का समूह वाक्य है । 'पद' क्या है । 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' ऐसा लक्षण गौतम सूत्र (२.२.५५) में है । जब कई अक्षरों के अन्त में कोई विभक्ति होती है तो वे 'पद' कहलाते हैं ।

य विभक्ति दो तरह की होती हैं--नामविभक्ति, आख्यात-विभक्ति। इस से नाम (संज्ञा) और आख्यात (क्रिया) दो ही तरह के पद नैयायिकों ने माने हैं (न्यायवार्तिक पृ. ३१४) जिस शब्द का अभिधेय–जो वस्तु उस से कही जाय और किसी क्रियासे सम्बन्ध रखता हो उस शब्द को 'नाम पद' कहते हैं। इसी से कहा है कि जिस वाक्य में कोई क्रिया न पाई जाय तो वहां 'अस्ति' या 'भवति' क्रिया का अध्याहार होता है । क्योंकि विना एक क्रिया के किसी नाम पद का अर्थ सम्पन्न नहीं होता। जब कभी किसी चीज़ का 'नाम' उच्चारण किया जायगा तब किसी क्रिया से सम्बद्ध वह चीज़ अवश्य होगी। इसी से वाचस्पति मिश्र ने (तात्पर्य. पृ. ३३०) कहा है कि नाम पद किसी क्रिया से सम्बन्ध रखता है इतनाही नहीं—किन्तु विना किसी क्रिया के उसका स्वरूप सम्पन्न ही नहीं हो सकता । यही भेद 'क्रिया' पद से इसका है। किसी क्रिया से सम्बन्ध तो क्रिया पद भी कभी कभी रखता ही है–जैसे (खाते खाते जाता है) यहां जाना क्रिया खाना क्रिया से सम्बद्ध है। किन्तु क्रिया पद में ऐसा नहीं है कि क्रिया सम्बन्ध के विना वह रह ही नहीं सकता। क्योंकि 'राम जाता है' यहां जाना क्रिया किसी क्रिया से सम्बद्ध नहीं है । इस तरह क्रिया के विना किसी नाम पद का प्रयोग नहीं हो सकता। जिस शब्द का मुख्य अर्थ कोई क्रिया ही हो- और जो उस क्रिया का भूत वर्तमान या भविष्यत् काल से सम्बन्ध सूचित करे- उसको 'क्रिया' पद कहते हैं।

इस पर यह शंका होती है कि यदि नाम और क्रिया दोही पद हैं तो क्या अव्यय पद नहीं है । इसका समाधान भाष्यकार ने किया है कि अव्यय पद अवश्य हैं। पर वे 'नाम' में अन्तर्गत हैं। इन में यद्यपि नामविभक्ति कोई नहीं पाई जाती तथापि इनमें विभक्ति नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं। इनमें भी और नाम पदों की तरह सुबन्त विभक्तियां रहती हैं पर उनका लोप हो जाता है । यही भेद अव्यय पद और नाम पद में है । एक में सुबन्त विभक्ति वर्तमान रहती है और दूसरे में लुप्त रहती है।

वाक्यों ही से कुछ विशेष बात कही जा सकती है–खाली पद

से कोई भी बात नहीं कही जा सकती है-खाली 'घोड़ा' कह दिया तो इससे कुछ नहीं जाना जाता है। जब इसके साथ 'दौड़ता है' इसको लगा देते हैं और पूरा वाक्य बना लेतेहैं तभी 'घोड़े का दौड़ना' कहा जाता है। इससे कुछ लोगों का कहना है कि पद वाचक नहीं है-वाक्य ही वाचक है।

इसका समाधान वार्तिककार ने किया है कि यदि 'घोड़ा' पद का कुछ अर्थ ही न होता तो 'दौड़ता है' पद लगाने से भी इसका अर्थ कहां से आ जाता। इससे सिद्धान्त यह है कि जब तक केवल 'घोड़ा' पद कहा गया है तब तक सामान्यतः-मामूली तौर पर-एक तरह के जानवर का ज्ञान होता है, उसके प्रसंग में किसी विशेष बात का ज्ञान नहीं होता। जब कोई क्रिया पद-'दौड़ता है'-उसके साथ लगाया गया तब मामूली तौर से एक तरह के जानवर का जो ज्ञान हुआ था उसके विषय में एक विशेष बात जानी जाती है।

अब यह सन्देह उठता है कि पद का अर्थ क्या है। गौतमसूत्र २।२।५६ में यह प्रश्न उठाया है कि जब हमने 'घोड़ा' पद का उच्चारण किया तो इससे किस अर्थ का ज्ञान होता है। (१) क्या किसी खास घोड़े का? (२) अथवा घोड़ों के शरीर का जो आकार होता है उसका? या (३) सामान्यतः जिस जाति का जानवर घोड़ा है उस जाति का? 'व्यक्ति' आकार और जाति में क्या भेद है सो ६४,६५,६६, सूत्रों में गौतम ने बतलाया है। वह भूत-पदार्थ-जिसमें खास खास गुण रहे और जो आंखों से देखा जाय या और इन्द्रियों से जाना जाय —उसीको 'व्यक्ति' कहते हैं। जिन अवयवों से वस्तु की जाति सूचित हो-जिन जिन अंगों के रहने से यह वस्तु अमुक जाति की है ऐसा ज्ञान हो-उन्हीं अवयवों को 'आकृति' कहते हैं। जिससे बहुत वस्तुओं का ज्ञान एक साथ कराया जाताहै—जिसके द्वारा भिन्न भिन्न वस्तु एक मानी जाती हैं—उसको 'जाति' कहते हैं। मीमांसकों ने 'जाति' और 'आकृति' को एकही माना है।

सूत्र ५७ में 'घोड़ा' पद से किसी एक खास घोड़े का ज्ञान होता है सो पक्ष उठा कर सूत्र ५८ में उसका खंडन किया है-यदि कोई खास एक घोड़ा इस शब्द से कहा जाता तो फिर उस घोड़े

को छोड़ कर और दूसरा कोई घोड़ा उस पद से नहीं कहा जा सकता। और फिर यदि एक एक कर प्रति घोड़े को इस पद का अर्थ मानें तो एक पद के अनन्त अर्थ मानने पड़ेंगे। इससे यह पक्ष स्वीकार के योग्य नहीं है। सूत्र ६० में आकार ही शब्दार्थ है इस पक्ष को कहा है-जब हम 'घोड़ा' पदको सुनते हैं तो घोड़ों के शरीर का जो आकार है—जिस आकर के रहने से जानवर 'घोड़ा' कहलाता है-उसी आकार का ज्ञान हमको होता है। अनुभव भी ऐसा ही होता है-जानवरों के शरीर के आकार ही को देखकर हम यह जान सकते हैं कि यह घोड़ा है या गाय। इस पक्ष में भी वही दोष है-जितने घोड़े हैं उतने ही आकार भी हैं। इससे यदि एक का आकर 'घोड़ा' पद से कहा जायगा तो दूसरे घोड़े का आकार उस पद से नहीं कहा जा सकता। जैसा आकार एक घोड़े का है ठीक वैसाही दूसरे घोड़े का कभी नहीं हो सकता। इससे फिर भी 'घोड़ा' पदकी अनन्त शक्ति माननी पड़ेगी। और यदि आकार ही 'घोड़ा' पद का अर्थ होता तो मिट्टी का घोड़ा भी घोड़ा कहलाता है। उसके शरीर का आकार भी घोड़ों की तरह होता है। सूत्र ६१ में इस पक्ष को उठाया है कि घोड़ा पद का अर्थ 'जाति है। जो दोष व्यक्ति या आकार पक्ष में हैं वे इस पक्ष में नहीं पाए' जाते। जिन चिह्नों से कुल घोड़े एक जाति के जानवर माने जाते हैं उन्हीं चिह्नों की एक साथ जो कल्पना की जाती है उसीको 'जाति' कहते हैं—यह जाति एक एक घोड़े में भिन्न नहीं है-सबमें एकही जाति है। इससे इस पक्ष में अनन्त शक्ति की आवश्यकता नहीं होगी। सूत्र ६२ में इस पक्ष का भी खंडन किया है। किसी शब्द से शुद्ध जाति मात्र का ज्ञान नहीं होता। जब कभी घोड़ा जाति का ज्ञान होता है तब पहिले खास किसी घोड़े का और उसके शरीर का ज्ञान हो लेता है तभी जाति का ज्ञान होता है। इससे जाति का ज्ञान पद से यदि हो भी तो और नये दोष कोई हों या न हों जितने दोष व्यक्ति और आकार वाले पक्षों में बतलाये गए हैं-वे सब इस पक्ष में भी अवश्य होंगे।

इन तीनों पक्षों का खंडन करके सू. ६३ में यह सिद्धान्त किया है कि जब कभी 'घोड़ा' पद हम सुनते हैं तब खाली किसी एक

खास घोड़े का-वा खाली घोड़ों के शरीर के आकार का-वा खाली घोड़ा जाति का ज्ञान नहीं होता। जो ज्ञान 'घोड़ा' पद के सुनने से उत्पन्न होता है उसमें व्यक्ति आकार और जाति तीनों भासित होते हैं। इस पक्ष में कोई भी दोष नहीं है। यद्यपि इन तीनों का ज्ञान होता है तथापि कहीं एक प्रधान होता है और कहीं दूसरा। जिस वाक्य से किसी खास घोड़े के प्रसंग में कुछ खास बात कही जाती है, जो कि और घोड़े में नहीं है, उस वाक्य में 'घोड़ा' पद के अर्थ में वह खास एक घोड़ा प्रधान रहता है और आकार जाति गौण रहते हैं। जैसे 'यह घोड़ा काला है' यहां पर यद्यपि घोड़ा पद से व्यक्ति आकार और जाति तीनों का ज्ञान होता है तथापि प्रधानतः उसमें खास एक घोड़े का ज्ञान होता है। इसी तरह जिस वाक्य से कुल घोड़े के प्रसंग में कोई बात कही जाय उस वाक्य में घोड़ा पद के अर्थ में 'जाति ही मुख्य रहती है, व्यक्ति-आकार गौण रहते हैं। जैसे 'घोड़े के चार पैर होतेहं' जिस वाक्य में आकार ही सूचित करने के लिये पद का प्रयोग होता है वहां आकार ही प्रधान होता है-जैसे 'यदि असल घोड़ा नहीं मिलता है तो मिट्टी का घोड़ा बनाओ'-इस वाक्य में घोड़े के शरीर का आकार ही 'घोड़ा' पद से कहा जाता है। कई पद ऐसे हैं जो एक ही चीज़ के नाम हैं-जैसे 'आकाश' ईश्वर इत्यादि-। ये केवल व्यक्ति ही को बतलाते हैं।

नाम पद का अर्थ यों होता है। क्रिया पद का अर्थ व्यापार है। जैसे 'घोड़ा दौड़ता है' इस वाक्य में 'दौड़ता है' क्रिया पद है। इस से दौड़ना रूपी व्यापार का ज्ञान होता है।

पदशक्ति

पद से व्यक्ति, आकार तथा जाति का ज्ञान होता है। पदों में कौन सी शक्ति है जिससे वे ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। मीमांसकों का मत है कि शब्द में एक स्वाभाविक शक्ति है जिससे वह अपने अर्थ को बोधित करता है। शब्द का अपने अर्थ से सम्बन्ध नित्य है खाली इसका ज्ञान हमको वृद्धों की बातों को सुन कर होता है। 'घोड़ा' पद का घोड़ा जानवर के साथ सम्बन्ध नित्य है। जब से

यह जानवर है तब से इसका नाम घोड़ा ही रहा है और रहेगा। इसका व्यवहार भी अनादि काल से चला आया है। वृद्धों की बात चीत सुनकर हमको इस सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

नैयायिकों का ऐसा मत नहीं है। शब्द का अपने अर्थ के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। शब्दों से अर्थ का जिसके द्वारा ज्ञान होता है उसका नाम 'समय' या "संकेत" है अर्थात् "यह शब्द इस अर्थ का बोधन करें" ऐसा जो संकेत शब्दों के प्रसंग में किया जाता है यही सम्बन्ध शब्द और अर्थ का होता है। किसी शब्द में स्वभावतः कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिससे वह अपने अर्थ का बोधन करे। भाष्यकार (२।१।५५-५६) के मत से यह संकेत या समय इस प्रकार का है—'इस शब्द से यह अर्थ समझा जाय' ऐसा जब कोई ठीक कर देता है तब से उस शब्द के साथ उस अर्थ का ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि जब उस शब्द का उच्चारण होगा तब उस अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होगा। यदि नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध शब्दों का अर्थ के साथ होता तो एकही शब्द से भिन्न देशों में भिन्न भिन्न अर्थ का ज्ञान नहीं होने पाता। देशभेद में भिन्न अर्थ कहे जाते हैं इससे यह साफ़ ज्ञात होता है कि जिस अर्थ के प्रसंग में जिस शब्द का संकेत जिस देश में किया गया है उस देश में वह शब्द उसी अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करता है। इस संकेत का ज्ञान लोकव्यवहार से होता है। माता की बातों को सुन सुन कर बच्चा यह समझ लेता है कि इस शब्द का यह अर्थ है। भाष्य और वार्तिक में इतनाही कहा है। इनमें 'ईश्वर ही का किया हुआ संकेत संकेत है' ऐसा नहीं कहा, वरन् स्वाभाविक सम्बन्ध के विरुद्ध जो हेतु यहां कहा है उसी हेतु से 'ईश्वर का किया हुआ संकेत है' इसका भी खंडन होता है। यदि ईश्वर का किया हुआ संकेत होता तो सब देशों में सब लोगों को एक शब्द से एक ही अर्थ का ज्ञान होता। पर ऐसा नहीं है। इससे संकेत ईश्वर का किया हुआ नहीं हो सकता। विश्वासपात्र आदमी जब संकेत कर देता है तो उसी से उस शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है, ऐसा मत प्राचीन नैयायिकों का साफ ज्ञात होता है। परंतु वाचस्पति मिश्र ने (पृ० २०६) लिखा है कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ही ऐसे

संकेत को करता है कि अमुक शब्द से अमुक वस्तु कही जाय, इत्यादि। इसी पक्ष को न्यायमंजरी में (पृ. २४१) पुष्ट किया है। जो शब्द इसी तरह अनादि व्यवहार से पाये जाते हों उन्हीं में शक्ति है। ईश्वर का किया हुआ संकेत जिन शब्दों का है वेही शब्द शक्ति कहलाते हैं। आज कल जो मनुष्यों के वा और वस्तुओं के नाम धरे जाते हैं वे भी उन मनुष्यों का या उन वस्तुओं का बोध तो अवश्य कराते हैं और इनके प्रसंग में किसी पुरुष का किया हुआ संकेत अवश्य रहता है 'अमुक का नाम मैं यह धरता हूं', और जैसे पुराने शब्दों के संकेत का ज्ञान बूढ़ों की बात चीत से जाना जाता है उसी तरह इनके अर्थ का भी ज्ञान होता है,—पर इन पदों में वैसी वाचकता शक्ति नहीं है जैसे पुराने शब्दों में। क्योंकि उनका संकेत सर्वज्ञानवान् ईश्वर का किया हुआ है और इनका संकेत आज काल के मनुष्य करते हैं जिस में अशुद्धियों का होना बहुत सहज है। इन दोनों तरह के शब्दों के और भी भेद हैं। जिन शब्दों का अर्थ सृष्टि के आदि में ईश्वर के संकेत से सिद्ध है उनका रूप या अर्थ बदल नहीं सकता। 'अश्व' पद से घोड़ा ही कहलावेगा। लौकिक शब्दों के अर्थ में हेर फेर होता रहता है। एकही नाम से एक आदमी एक चीज़ को पुकारेगा और दूसरा आदमी उसी नाम से दूसरी चीज़ को। इसके अनुसार नवीन नैयायिकों का सिद्धान्त है कि ईश्वर कृत संकेत ही को 'शक्ति' कहेंगे, आधुनिक संकेत को 'परिभाषा' कहेंगे। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत भाषा ही के शब्दों में वाचकता शक्ति है। और भाषाओं के शब्द वाचक तो हो जाते हैं, क्योंकि पुरुष का किया हुआ संकेत इनमें भी है, पर शक्ति इनमें नहीं मानते, ये केवल पारिभाषिक हैं, क्योंकि इनके संकेत का करने वाला सर्वज्ञ ईश्वर नहीं है। ईश्वर के किये हुए संकेतों में किसी तरह का सन्देह नहीं हो सकता।

यहां एक शंका उठती है। ईश्वर जब आदि में संकेत करता है तो किन शब्दों द्वारा करता है। 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध हो', अस्मात् शब्दात् अयमर्थो बोद्धव्यः 'इन शब्दों का व्यवहार जो ईश्वर करता है सो ये शब्द कहां से आते हैं और इनका

संकेत किसने किया है। ईश्वर ने तो अब तक कोई संकेत नहीं किया है।

इसका समाधान नैयायिक इतना ही करते हैं कि ईश्वर सर्व-शक्तिमान् सर्वज्ञ है, ऐसा जब इस प्रमाण से सिद्ध कर देते हैं तब ईश्वर ने कैसे इस काम को किया या कर सकता है, ये सब प्रश्न व्यर्थ हैं। वह सब कुछ कर सकता है, वह कैसे करता है सो हम लोगों के समझ में नहीं आ सकता। प्रति सृष्टि के आदि में वह 'प्रति-पाद्य प्रतिपादक' शरीरद्वय बनाकर सब शब्दों का व्यवहार करता है।

नवीन नैयायिकों ने भाष्यकार ही के मत का समर्थन करते हुए माना है कि ईश्वर की इच्छा से पद की शक्ति है ऐसा नहीं, पुरुष मात्र की इच्छा से शक्ति होती है। इसी से सब काल के सब भाषाओं के सब तरह के शब्दों में एक तरह का संकेत सिद्ध होता है। और इसी संकेत के द्वारा इन शब्दों से भी शाब्द-ज्ञान होता है।

पद की शक्ति नैयायिकों ने तीन प्रकार की मानी है। (१) कई पद ऐसे हैं जिनका अर्थ वही है जो उनके खंडों से सूचित होता है जैसे 'पाचक' शब्द—इसका अर्थ है पकानेवाला। इस शब्द से जो ' पच ' धातु और ' ण्वुल ' प्रत्यय है इनका अर्थ भी 'पकानेवाला' है। इससे यह शब्द ' यौगिक ' कहलाता है और इनकी शक्ति ' अवयव शक्ति ' वा ' योगशक्ति ' कहलाती है।

(२) कई पद ऐसे हैं जिनके अपने खंडों से या तो कोई अर्थ ही नहीं प्रतीत होता है, या यदि होता भी है तो उनका जो अर्थ है उससे इस अर्थ का कुछ सम्बन्ध नहीं–' जैसे ' घट पद में ' घ ' और ' ट ' ये दो अक्षर हैं। इनका कुछ अर्थ नहीं है। यदि कुछ एकाक्षर कोष से इन अक्षरों के अर्थ निकल भी जायँ तो इन अर्थों का घड़े के साथ किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है—और ' घट ' पद से घड़े ही का बोध होता है। ऐसे पद ' रूढ़ पद ' कहलाते हैं और इनकी शक्ति को ' समुदाय शक्ति ' वा ' रूढ़ि-शक्ति ' कहते हैं।

(३) कई पद ऐसे हैं जिनके खंड से जो अर्थ प्रतीत होता है उसका सम्बन्ध उनके संकेतित अर्थ से भी रहता है। जैसे 'पंकज'

पद का संकेतित अर्थ है 'कमल' और पंकज पद में जो 'पंक' शब्द 'जन' धातु और 'ड' प्रत्यय हैं उसका अर्थ होता है 'पंक से उत्पन्न हुआ'। कमल भी पंक से उत्पन्न होता है। इससे इस पद में संकेतित अर्थ जो हैं सो यौगिक अर्थ से भी मिलता हुआ है। ऐसे पद 'योगरूढ़' कहलाते हैं। और इनकी शक्ति 'योगरूढ़ि' कहलाती है।

'यौगिकरूढ़ि' भी कोई आचार्य्य मानते हैं। जिस पद से अवयव शक्ति से अलग और समुदाय शक्ति से अलग अर्थ बोधन किया जाता है जैसे 'उद्भिद्' शब्द है। इस पद में अवयवशक्ति द्वारा 'ऊपर चढ़ने वाला' वृक्षादि अर्थ और समुदायशक्ति द्वारा योग विशेष बोधित होता है।

पद के अर्थ का ज्ञान संकेत से होता है। और ऊपर कह आये हैं कि पद का असल अर्थ व्यक्ति-आकार और जाति तीनों मिला हुआ होता है। इससे संकेत भी ऐसाही होगा। फिर यह सन्देह भाष्यकार ने उठाया है (पृ० १२३) कि अकसर पदों से खाली व्यक्ति का बोध होता है या जो असल अर्थ जिस पद का है सो अर्थ नहीं बोधित होता-किसी दूसरे ही अर्थ का बोध होता है—यह कैसे होता है। इस पद की किस तरह की शक्ति है? इसका समाधान गौतम ने २। २। ५६ सूत्र में किया है। जिस शब्द का यह अर्थ नहीं भी है वह शब्द भी कभी कभी उस अर्थ का कई कारणों से बोधन करा सकता है। (१) जैसे कभी लोगों के खिलाने के समय खिलाने वाला ऐसा कहता है—'अब लाल पगड़ियों को खिला दो' इसका अर्थ होता है कि लाल पगड़ी वाले आदमी को खिलवा दो। 'लाल पगड़ी' इस शब्द से 'लाल पगड़ी वालों' का ज्ञान होता है। इसमें कारण है 'सह चरण' अर्थात् उन आदमियों का लाल पगड़ी के साथ होना। (२) इसी तरह जब पाठशाला में किसी दरजे में शोर होता है तो लोग कहते हैं 'वह दरजा बड़ा शोर कर रहा है' 'दरजा' शब्द से 'दरजे में रहने वाले लड़कों' का ज्ञान होता है। इसका कारण है 'स्थान' अर्थात् उस दरजे में लड़कों का रहना। (३) मकान बनाने के लिये जब कोई आदमी ईंटा इकट्ठा करता है तो लोग

कहते हैं 'यह मकान बना रहा है' जहां मकान बनाने का अर्थ 'ईंटा इकट्ठा करना' होता है। इसका कारण होता है 'तादर्थ्य' अर्थात् 'मकान बनाने के लिये ईंटा का इकट्ठा होना'। (४) किसी बड़े दुष्ट आदमी के प्रसंग में लोग कहते हैं 'यह राक्षस है' जहां पर 'राक्षस' पद का अर्थ 'दुष्ट' होता है। इसका कारण है 'वृत्त' अर्थात् दुष्ट आदमी के आचरण का राक्षस के समान होना। (५) सेर से तौल कर जब आटे को रख कर जाते हैं तो कहते हैं 'यह एक सेर है' जहां पर एक सेर का अर्थ होता है 'एक सेर के तौल से तुला हुआ' इसका कारण होता है 'मान' अर्थात् आंटा का सेर से नापा जाना। (६) चावल से भरी हुई टोकरी को लोग 'चावल की टोकरी' कहते हैं यहां 'चावल' का अर्थ होता है, 'चावल से भरी हुई' इसका कारण है 'धारण' अर्थात्— 'चावल' का उस टोकरी में भरा जाना। (७) गंगा के तीर पर गाय चरती हैं तो लोग कहते हैं 'गाय गंगा में चर रही है'। यहां 'गंगा' पद से गंगातीर का बोध होता है। इस में कारण है 'सामीप्य' अर्थात् तीर का 'गंगा' के समीप होना। (८) लाल रंग से रंगे कपड़े को 'लाल कपड़ा' कहते हैं। यहां 'लाल' पद का 'लाल रंग से रंगा हुआ' ऐसा अर्थ होता है इसका कारण है 'योग' अर्थात् लाल रंग का संयोग उस कपड़े में होना। (९) अकसर लोग कहते हैं 'अन्न ही प्राण है' जहां पर 'प्राण' शब्द का अर्थ 'प्राण रक्षा का उपाय' होता है। इसमें कारण है 'साधन'- अर्थात् अन्न का प्राण रक्षा का साधन होना। (१०) किसी वंश के मुख्य पुरुष को उस वंश के नाम से कहते हैं 'ये सिसोदिया हैं,-यहां 'सिसोदिया' पद का अर्थ होता है 'सिसोदिया कुल का मुख्य आदमी'। इस का कारण है 'आधिपत्य' अर्थात् उस आदमी का उस कुल में मुख्य होना।

इससे यह स्पष्ट है कि नैयायिकों ने 'शक्ति' और 'लक्षणा' दो तरह का अर्थबोधक सामर्थ्य पदों में माना है।

पदों के अर्थ का ज्ञान बच्चों को अपनी माता की बात चीत से होता है ऐसा न्यायवार्तिककार ने लिखा है। यह पद के अर्थ के ज्ञान का प्रकार एक उदाहरण रूप से कहा है सो बच्चों

के लिये तो ठीक है। पर बड़े होने पर भी हम लोग कितने नये नये पद के अर्थ सीखते हैं। नये नये पदों के अर्थ जानने के प्रकार आठ बतलाये गये हैं। (१) व्याकरण के द्वारा धातुप्रत्यय और विभक्तियों के अर्थ को जान कर जब हम पद के अर्थ को जानते हैं। जैसे 'पाचक' पद में 'पच' धातु और एवुल प्रत्यय है यह समझ कर हम उस पद का अर्थ 'पाक करने वाला' समझते हैं। (२) उपमान से। 'गवय' पद का अर्थ क्या है सो हम उपमान प्रमाण से जानते हैं। जैसा ऊपर कह आये हैं। (३) कोश से। कोश में पदों के अर्थ कहे हुए हैं। उसको देख कर हम समझ जाते हैं कि इस पद का यह अर्थ है। (४) विश्वासपात्र आदमी के वाक्यों से। जब विद्यार्थी किसी पद का अर्थ नहीं समझता तो गुरु बता देता है कि इस पद का यह अर्थ है। (५) वृद्धों के व्यवहार से। जब एक वृद्ध एक जवान आदमी से कहता है 'लोटा लाओ' इस पर जवान आदमी लोटा ले आता है। फिर वह कहता है 'लोटा ले जाओ, गिलास लाओ' फिर जवान आदमी एक को रख कर दूसरी चीज़ ले आता है। बुद्धिमान लड़का इन सब व्यवहारों को देख कर समझ जाता है कि 'लोटा' 'गिलास' 'लाओ' 'ले जाओ' किसे कहते हैं। (६) वाक्य शेष से। जैसे मालिक ने कहा 'तरकारी भून लो' 'घी में या तेल में भूनो' यह नहीं कहा-थोड़ी देर के बाद कहता है 'यह तरकारी घी की भुनी अच्छी होती है'। इस वाक्य के शेष से नौकर समझ जाता है कि तरकारी घी में भुनी जायगी। (७) व्याख्या से। रासभ पद का अर्थ न जानने वाला आदमी जब किसी टीका में देखता है-'रासभो गर्दभः' तब समझ जाता है कि रासभ गदहा है। (८) प्रसिद्ध पद का सान्निध्य। 'इस सहकार वृक्ष पर कोकिल कूज रही है', इस वाक्य को सुनने वाला 'सहकार' पद का अर्थ न जानता हो तो भी कोकिल पद के अर्थ को जानकर ही समझ जाता है कि 'सहकार' आम है।

शक्ति और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी वृत्ति 'व्यंजना' भी आलंकारिकों ने माना है पर नैयायिक इसे पृथक् वृत्ति नहीं मानते॥

नैयायियों के मत से प्रमाणों की संख्या चारही मानी गई है।

गौतम २. २. १ सूत्र में शंका उठाई है कि और दर्शनों में इन चार के अतिरिक्त अर्थापत्ति, ऐतिह्य, सम्भव और अभाव-ये चार और प्रमाण माने हैं। जब किसी आदमी को विना रोगादि के मोटा देखा और साथही यह जाना कि यह आदमी दिन को नहीं खाता तो इससे यह मालूम हो जाता है कि यह रातही में खाता है। इसी ज्ञान के कारण को अर्थापत्ति प्रमाण माना है। जिस बात के विना किसी देखी हुई या सुनी हुई बात-'अर्थ'-में 'कोई अपत्ति'-दोष-देख पड़ता हो उस बात का ज्ञान 'अर्थापत्ति ज्ञान' कहलाता है। किसने कहा सो ठीक नहीं मालूम है पर कोई बात लोगों में प्रसिद्ध हो जाती है—जैसे इस पेड़ में भूत रहता है—इसको लोगों ने 'ऐतिह्य' माना है। किसी चीज में उनके टुकड़ों का रहना जिस प्रमाण से माना जाता है—जैसे सेर में छटांकों का होना इत्यादि—उसको 'संभव' प्रमाण माना है। 'यहां पर अमुक वस्तु नहीं है' यह ज्ञान जिस प्रमाण से होता है उसको 'अभाव' प्रमाण माना है।

अकसर लोगों ने लिखा है कि नैयायिकों ने इन प्रमाणों को नहीं माना है। जिन उपायों से किसी तरह का यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो उनको न्यायप्रिय नैयायिक प्रमाण न माने यह कब हो सकता है। इन चारों से जब कभी यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होगा तब ये 'प्रमाण' अवश्य हैं। पर मीमांसक वेदान्ती तथा पौराणिकों से नैयायिकों का भेद इतना ही है कि इन्हों ने इनको अपने कहे हुए चार प्रमाण ही में अन्तर्गत माना है। अर्थापत्ति एक तरह का—व्यतिरेक—अनुमान ही है। प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान किसी नियत सम्बन्ध द्वारा जो होता है वही अनुमान है। अर्थापत्ति में भी आदमी का मोटा होना प्रत्यक्ष है इससे रात को खाना जो अप्रत्यक्ष है उसका ज्ञान होता है। जब आदमी मोटा है तब खाता जरूर है—यह खाना क्या रात को हो सकता है या दिन में—दिन में यह नहीं खाता है—तो निश्चय है कि रात में खाता है—यह एक तरह का अनुमान ही हुआ। ऐतिह्य से जो ज्ञान होता है सो यथार्थ या सत्य तभी होगा जब इसका प्रथम कहनेवाला कोई विश्वासपात्र आदमी होगा। और ऐसी दशा में यह

'आप्तोपदेश' रूप शब्द प्रमाण ही होगा । जब कहने वाला आप्त नहीं है तब उसके कहे हुए शब्द में सत्य ज्ञान ही नहीं हो सकता । किसी वस्तु के टुकड़े उसके साथ सदा रहते हैं यह तो व्याप्ति प्रसिद्ध ही है—फिर जब हमें सेर में छटांक का ज्ञान होता है तो इसी व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न हुआ है—यह शुद्ध अनुमान ही है। अभाव को भी अनुमान ही मानते हैं। 'यहां फल नहीं है' यह ज्ञान हम को तभी होता है जब यह समझ लेते हैं कि यदि फल यहां होता तो मैं अवश्य देखता—मैं फल को देखता नहीं हूं—इस लिये फल यहां नहीं है'—यह शुद्ध अनुमान हुआ। जिस चीज के रहने से भी मैं उसे नहीं देख सकता उसके अभाव का ज्ञान मुझे नहीं हो सकता। इत्यादि भाष्य वार्तिक में स्पष्ट लिखा है।
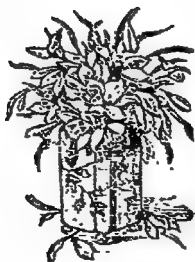
(२) दूसरा पदार्थ

प्रमेय

प्रथम पदार्थ 'प्रमाण' का निरूपण हो चुका। यथार्थ ज्ञान जिससे हो उसको 'प्रमाण' कहते हैं। अब यथार्थ ज्ञान किन चीज़ों का होता है उसका विचार होगा। जिन चीज़ों का यथार्थ ज्ञान हो सके वेही 'प्रमेय'—'प्रमाण के विषय'—हैं। ऐसा 'प्रमेय' का लक्षण भाष्य पृ. २३ से स्पष्ट होता है। परन्तु गौतम ने १, १. ७ सूत्र में जो बारह प्रमेय गिनाये हैं उनसे प्रायः अधिक और कितनी वस्तु हैं जिनका यथार्थ ज्ञान हो सकता है—इस बात का विचार कर वार्तिककार ने (पृ. ६४) कहा है कि 'प्रमेय' पद से गौतम का उन्हीं वस्तुओं से मतलब है जिनके यथार्थ ज्ञान से अपवर्ग या मोक्ष प्राप्त हो, और जिनके न जानने से या अशुद्ध ज्ञान से जन्म मरण संसार में होता रहे। ऐसी वस्तु वेही बारह हैं जिनको गौतम ने १. १. ७ सूत्र में गिनाई हैं। भाष्यकार ने (पृ. २४) में कहा है-द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय भी प्रमेय माने गये हैं। पर इनके भेद असंख्य हैं—इससे सूत्रकार ने उन्हीं वस्तुओं को प्रमेय कहा है जिनके ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से जन्म मरण होता है' ये यों हैं—

(१) आत्मा—सब चीज़ों का देखने वाला, भोग करने वाला, जानने वाला, अनुभव करने वाला। (२) शरीर—भोगों का आयतन—आधार। (३) इन्द्रिय—भोगों का साधन—जिनके द्वारा भोग होता है। (४). अर्थ—वे वस्तु जिनका भोग होता है। (५) बुद्धि—भोग। (६) मन—अन्तःकरण अर्थात् वह भीतर की इन्द्रिय जिसके द्वारा कुल चीज़ों का ज्ञान हो सकता है। (७) प्रवृत्ति—वचन मन और शरीर का व्यापार। (८) दोष—जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है। (९) प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म। (१०) फल—सुख दुःख का संवेदन या अनुभव। (११) दुःख-पीड़ा, क्लेश। (१२) अपवर्ग-दुःख से अत्यन्त—एक दम-मुक्ति। इन्हीं बारहों प्रमेयों को यथार्थ जानकर आदमी यह समझता है कि इनमें किस का ग्रहण करना और

किसका त्याग । फिर इनके प्रसंग जो मिथ्याज्ञान है उनको वह दूर करता है । इस तरह अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान के दूर होने से अपवर्ग रूप परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है । जितने पदार्थ गौतम ने प्रथम सूत्र में दिखाये हैं—जिनके ज्ञान से परम पुरुषार्थ कहा गया है—वे सब 'प्रमेय' में अन्तर्गत हैं । प्रमेय ही के ज्ञान से अपवर्ग होता है, ऐसा भाष्य में (पृ. २) स्पष्ट कहा है । प्रथम सूत्र में पदार्थों का उस क्रम से परिगणन किस मतलब से है सो इस ग्रंथ के प्रारम्भ में विचार किया गया है ।

आत्मा ।

आत्मा सब का द्रष्टा, सब का भोक्ता, सब का जानने वाला, सब का पाने वाला है—ऐसा भाष्य (पृ. २३) में लिखा है । इसका अर्थ वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका (पृ. १४१) में यों किया है—'सब का द्रष्टा'—सुख और दुःख देनेवाली जितनी चीज़ें हैं उनका देखनेवाला । 'सब का भोक्ता'—सब सुख दुःख का भोगने वाला । 'सबका जानने वाला'—जितनी चीज़ें हैं सब सुख दुःख देती हैं और आत्मा ही कुछ सुख दुःख का भोग करता है—इससे आत्मा सब चीज़ों का जानने वाला कहलाता है । 'सब का पाने वाला'—जब तक कोई चीज़ पाई या पहुँची नहीं जाती, तब तक उसका ज्ञान नहीं हो सकता, इससे सब का जानने वाला आत्मा सब का पाने वाला कहलाता है ।

ऐसा आत्मा है । अब यह सन्देह उठता है कि आत्मा को हम प्रत्यक्ष देख नहीं सकते—तो क्या आत्मा है सो हमको केवल आप्तोपदेश वेद ही के भरोसे पर मानना होगा या इसमें और भी कोई प्रमाण हो सकता है । गौतम ने १ । १ । १० सूत्र में कहा है कि आत्मा है यह बात अनुमान से सिद्ध होती है । ऐसा मत भाष्यकार का है । पर न्यायमञ्जरीकार से लेकर नवीन नैयायिकों तक सभी आत्मा को प्रायः प्रत्यक्ष भी मानते हैं । न्यायमञ्जरी (पृ० ३२-३४) में कहा है वृद्धों के

मत से आत्मा अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। इस से यदि ऐसा मान भी लें तो हानि नहीं। पर असल में आत्मा का प्रत्यक्ष ही मानना ठीक समझ पड़ता है। क्यों कि जितने ज्ञान होते हैं उन सभों में आत्मा भी ज्ञातारूप से भासित होता है—ऐसा भाष्यकार का मत है। इससे यदि प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा भासित होगा तो फिर इस का प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों न माना जाय? फिर आज हम एक चीज़ को देखते हैं, फिर चार दिन के बाद उसी चीज़ को देखते हैं तो हमको ऐसा ज्ञान होता कि है 'उस दिन जिस चीज़ को हमने देखा था उसी को मैं आज देखता हूं'। प्रत्यक्ष और इस प्रत्यभिज्ञान में दोनों दिन का देखने वाला भी भासित होता है। इससे भी आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान मानना उचित समझ पड़ता। इसी मत का स्वीकार करके नवीन नैयायिकों ने वैशेषिक मत के अनुसार आत्मा का इन्द्रियों का 'अर्थ' माना है।

इसका प्रत्यक्ष किस इन्द्रिय से होता है? इसके उत्तर में नवीन नैयायिकों ने मन को एक इन्द्रिय माना है। मन ही से आत्मा और सुख दुःख का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञान ये ही आत्मा के अनुमान के साधन-चिन्ह- हेतु-माने गए हैं। जब कोई आदमी कई चीजों को देख कर इनमें कौन दुःख देती है कौन, सुख इसका विचार करता है तो सुख देने वाली चीज़ मुझको मिले, ऐसी अभिलाषा उसके मन में होती है।' इसीको 'इच्छा' कहते हैं। यह इच्छा उसी को हो सकती है जो चीजों को देखे और उनका विचार करे। चीजों का देखने वाला आत्मा ही है। इससे जहां इच्छा है वहां की चीजों के देखने वाले आत्मा का अनुमान हो सकता है। (२) इसी तरह यदि किसी चीज़ से द्वेष-हो तो 'मुझे वह चीज नहीं मिले' ऐसी अभिलाषा भी चीजों के देखने वाले ही को हो सकती है। इस से द्वेष से भी आत्मा का अनुमान होता है। (३) प्रयत्न या व्यापार दो तरह का होता है। किसी चीज को ग्रहण करने का अथवा उसे त्याग करने का। ग्रहण उसी वस्तु का किया जाता है जिससे ग्रहण करने वाले को सुख की आशा हो और वही चीज त्यागी जाती है जिससे उसको दुख का डर हो।

इसलिये प्रयत्न भी वही करेगा जिसको इच्छा या द्वेष होगा अर्थात् जो चीजों को देख भाल कर उनके दोष गुण का विचार करेगा। इससे प्रयत्न से भी आत्मा का अनुमान होता है। यदि एक एक बुद्धि या विज्ञान ही आत्मा होता तो एक एक चीजों का देखने वाला या विचार करने वाला कोई एक आत्मा नहीं हो सकता। (४) जब किसी चीज को पाकर हम यह जानते हैं कि यह चीज सुख देने वाली है क्योंकि किसी समय में जब हमको यह मिली थी तो मुझे सुख हुआ था—तो उस चीज के फिर मिलने पर सुख होता है। इसी तरह जिस चीज ने मुझे दुःख दिया है वह चीज जब मिलती है तब उस दुःख का स्मरण होता है और उस चीज के मिलने पर दुःख होता है। इससे दुःख भी उसी को होगा जिसने चीजों को देखा है, जो उनके स्वभाव को जानता है और गए दिन से लेकर आज तक एक रहा है। ऐसा एक आत्मा ही हो सकता है। इसलिये सुख दुःख से भी आत्मा का अनुमान होता है। (५) जब किसी चीज के ग्रहण करने की इच्छा होती है तब उस चीज को देखकर फिर हम यह विचार करते हैं—क्या यह वही चीज है जिससे मुझे सुख मिला था। फिर सोच कर ठीक करते हैं—हां यह वही चीज है। इस तरह जो चीजों का ज्ञान होता है वह भी उसी एक को हो सकता है जिसने चीज को देखा है, उससे सुख या दुःख भोग चुका है—इत्यादि। एक ऐसा आत्मा ही हो सकता है। इस तरह ज्ञान से भी आत्मा का अनुमान होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि एक आत्मा न होता तो जो चीजों को देखता है, इनसे सुख या दुःख भोगता है, इन बातों को स्मरण रखता है—इसके अनुसार इच्छा द्वेष रखता है—इनके अनुसार व्यापार करता है—ऐसा कोई होता ही नहीं। फिर ज्ञान इच्छा इत्यादि जितनी बातें प्रति दिन पाई जाती हैं—इनका होना सम्भव नहीं होता।

मानस के इन्द्रिय होने में नाना प्रकार के मतमतान्तर हैं। इससे मानस को प्रत्यक्ष भी सब लोग नहीं मानते। इसलिये आत्मा का मानस प्रत्यक्ष मानते हुए भी न्यायमंजरीकार ने अन्त में सिद्धान्त किया है कि सब बातों का विचार करने

पर आत्मा का अनुमेय ही मानना युक्तिसंगत ज्ञात होता है। 'अनुमेयत्वमेवास्तु लिंगनेच्छा दिनाऽऽत्मनः' (पृ. ४३४)।

आत्मा है यह तो सिद्ध हुआ। अब यह शंका उठती है कि शरीर ही आत्मा है, या इन्द्रिय, या मन, या बुद्धि, या इन सभों का संघात—इन सभों से मिल कर बना हुआ कोई पदार्थ आत्मा है—या वह इनसे अलग कोई अपूर्व ही पदार्थ है। बौद्धों ने सब चीज़ों को क्षणिक माना है। इससे उनके मत से आत्मा कोई स्थिर पदार्थ नहीं है। वे बुद्ध्यादिसंतान ही को आत्मा मानते हैं। इस क्षणिक-वाद का खंडन न्यायमंजरी में (पृ० ४५३-४६७) किया है। शरीर इन्द्रिय इत्यादि पदार्थों से अलग एक अपूर्व ही पदार्थ आत्मा है-ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है-(गौतम सूत्र-३।१-११-२७,)।

(१) इसके साधन में पहिला हेतु ३।१।१-३ सूत्रों में कहा है। एकही चीज को हम आंख से देखते हैं और हाथ से छूते भी हैं, जब ऐसा होता है तब मैं समझता हूं कि जिस चीज को मैं ने देखा उसी को मैं ने छूआ। इससे साफ ज्ञात होता है कि देखने वाला और छूने वाला एकही है। यदि इन्द्रिय देखता या छूता तो दोनों ज्ञान दोनों इन्द्रिय के होते। किसी एक का ज्ञान ये दोनों नहीं समझे जाते। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों से अलग ही कोई एक है जिसको चीजों का ज्ञान होता है। वही ज्ञाता आत्मा है।

(२) शास्त्रों में कहा है और बौद्धों ने स्वीकार किया है कि किसी जीव को मार डालने से पाप होता है। वस्तुतः जीव—आत्मा—मारा नहीं जा सकता है तथापि शास्त्रों में जिस हिंसा को पाप बतलाया है सो आत्मा का आश्रय जो शरीरादि उसके नाश करने ही का नाम है। मगर मार डालने वाले के शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि इत्यादि से भिन्न कोई स्थिर वस्तु अनेक जन्म तक रहने वाला आत्मा नहीं होता जैसा कि बौद्धों ने माना है। उनके मत से सभी वस्तु क्षणिक है, चिरस्थायी कुछ नहीं—तब मारने से पाप किसको होता। जिसने मारा सो एक क्षण के बाद नष्ट हो गया, फिर वह पाप हुआ तो किसको हुआ। पर पाप होता है सो शास्त्र में कहा है। इससे मानना पड़ता है कि जीव को मारने वाला और मारने के पाप

का भागी कोई एक चिरस्थायी वस्तु है। वही वस्तु आत्मा है (सूत्र ३।१।४)।

(३) किसी चीज़ को दाहिने हाथ से एक समय किसी ने छूआ। फिर थोड़ी देर के बाद बायें हाथ से उसी चीज़ को छूकर वह यह जान लेता है कि यह वही चीज है । यदि इन्द्रिय ही छूने वाली ज्ञाता होती तो दोनों वस्तु को छूने वाली तो इन्द्रिय एक नहीं थी फिर यह पहचान कैसे होती ? इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय के दो रहने पर भी असल ज्ञाता-छूने वाला एकही है। वही एक आत्मा है। (सूत्र० ३ । १ । ७)। दोनों हाथ मिल कर एक ही ' स्पर्श ' इन्द्रिय है या दोनों आँख मिल कर एकही 'चक्षु' इन्द्रिय है ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक हाथ कट जाने से वा एक आँख के गिर जाने से वे इन्द्रिय एक दम नष्ट होजातीं और एक हाथ या एक आँख से कुछ काम नहीं हो सकता।

(४) जब मैं पका आम देखता हूं तब उसके स्वाद का स्मरण होता है और मुंह में पानी भर आता है । अर्थात् देखी गई चीज़ एक इन्द्रिय—आँख—से और उसका विकार हुआ दूसरी इन्द्रिय-जिह्वा-में । इससे भी ज्ञात होता है कि दोनों इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान हुआ है-आज का फल देखना और पहिले कभी फल खाना इत्यादि सब का ज्ञाता एकही है । (सूत्र ३।१।१२) यदि यह कहा जाय कि एकही चीज का नाना प्रकार का ज्ञान-स्मरण इत्यादि-मन के ही माने जा सकते हैं, इनसे आत्मा की सिद्धि नहीं होती तो इसके उत्तर में सूत्रकार ने (सू० ३ । १ । १७) कहा है कि अभी मेरा इतना ही कहना है कि कुल ज्ञानों का ' ज्ञाता ' कोई एक है। यदि उसका नाम आप ' आत्मा ' न कह कर ' मन ' ही कहें तो मेरी कुछ हानि नहीं । एक ज्ञाता सिद्ध हुआ उसी ज्ञाता को हम 'आत्मा' कहते हैं।

इन हेतुओं से बौद्ध मत का तो खंडन हुआ । अर्थात् क्षणभङ्गी आत्मा नहीं है सो सिद्ध हुआ। चार्वाकों ने तो जन्म से मरण तक एक अनुभविता और स्मर्ता माना है। इस मत से आत्मा मरण के बाद नहीं रहता मरण ही से उसका नाश होजाता है। इसके विरुद्ध

आत्मा का नित्यत्व—जन्म जन्मान्तर में रहना–१६ से लेकर २७ सूत्र तक सिद्ध किया है।

(५) जब बालक का जन्म होता है तो थोड़े ही दिनों में–जब तक कोई भी सुख या दुःख का कारण उपस्थित नहीं होता तभी उसको सुख दुःख हर्ष शोक होने लगता है। चारही दिन का बालक बिछौने पर पड़ा पड़ा हंसता है। हंसना बिना खुशी के नहीं हो सकता। यह खुशी कहाँ से आई? इस जन्म में तो कोई खुश होने का कारण अभी तक हुआ ही नहीं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहिले जन्म में जो कुछ खुशी की बातें उसके अनुभव हुई हैं उन्हीं के संस्कार वा वासना के बल से स्मरण उसको होता है और इसी से वह हंसता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई वस्तु जो इस बालक के शरीर में है उसका पहिले भी जन्म होगया है और उस बार के जन्म के ज्ञानों का स्मरण इसको अब हो रहा है। शरीर इन्द्रियादि तो यह वस्तु नहीं हो सकते। इससे इनके अतिरिक्त कोई स्थायी वस्तु है, यह मानना पड़ेगा। (सूत्र ३।१।१९)। इसका संक्षेप न्यायमंजरी में यों कहा है (पृ.४७०)

'तस्मान्मुखविकासस्य हर्षो, हर्षस्य च स्मृतिः।
'स्मृतेरनुभवो हेतुः, स च जन्मान्तरे शिशोः॥

(६) फिर जन्म होते ही बालक को दूध पीने की अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा तभी हो सकती है जब पहिले इसका दूध पीने का अभ्यास रहा हो। इससे इस बालक के शरीर में ऐसी वस्तु का होना सिद्ध होता है जिसका पहिले भी जन्म हुआ है। और वही पूर्व जन्म की बातों का स्मरण करके दूध पीने की इच्छा करता है। यही वस्तु आत्मा है। (सूत्र, ३।१।२२)। प्रवृत्तिमात्र के प्रति इष्टसाधनताज्ञान कारण हैं। अतएव बालक की स्तनपान में प्रवृत्ति के प्रति भी जन्मान्तरीय इष्टसाधन ज्ञान कारण मानना पड़ता है। तादृश ज्ञानाश्रयरूपेण आत्मा सिद्ध होता है।

(७) हम देखते हैं कि जिस आदमी को राग बिलकुल नहीं है उसका जन्म नहीं होता—जिसका राग है उसी का जन्म होता

है । अर्थात् जन्म होने के पहिले किसी चीज की कामना जब होती है तभी उस कामना की पूर्ति के लिए जन्म होता है । इससे कामना वाले जन्म के पहिले कोई था—और वह अपने आगे के अनुभावों को स्मरण करके ही सुखदायी वस्तुओं की कामना करता है-यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा । इससे भी आत्मा का पुनर्जन्म सिद्ध होता है । (३ । १ । २५)

(८) फिर हम यह भी देखते हैं कि जितने मनुष्य संसार में हैं उनके स्वभाव में, अवस्था में, बड़ा भेद हैं । कोई सुशील सदाचारी है–कोई दुष्ट और दुराचारी है–कोई गरीब हैं और कोई धनी है–इत्यादि । इस भेद का कारण क्या है ? पूर्व जन्म में जो कर्म किए गए हैं उन्हीं के कारण इस जन्म के स्वभाव अवस्था इत्यादि होते हैं । इसको छोड़ और कोई कारण इस भेद का नहीं हो सकता । एक ही काल में उत्पन्न हुए यमज भाइयों के स्वभाव में और धन लाभ आदि में बड़ा भेद होता है । यह सब विना पूर्वजन्म कृत कर्मों के माने नहीं ठीक समझा जा सकता । इसके विरुद्ध प्रायः यह कहा जायगा कि सब से पहिले जो संसार हुआ होगा उसमें आत्माओं में भेद कैसे हुआ-उसके पहिले तो कोई जन्म नहीं था फिर आत्माओं के किन कर्मों के फल वे भेद हुए होंगे । इसका समाधान यह कहा जाता है कि यह संसार चक्र अनादि चला आता है । सृष्टि का आदि जो शास्त्रों में वर्णित है सो प्रति कल्प की सृष्टि का आदि है । इससे कल्पादि में जो भेद है सो पूर्व कल्प के कर्मों के फल से होते हैं । ऐसा ही कल्प कल्पान्तर से सम्बद्ध अनुस्यूत एक आत्मा है सो सिद्ध होता है । जो आत्मा अच्छा काम करता है उसको उससे धर्म होता है, जो बुरा काम करता है उससे अधर्म होता है । यही धर्म अधर्म बीज की तरह आत्मा में लगे रहते हैं और आगे जाकर इसी जन्म में या आगे के जन्म में इन्हीं बीजों के फल सुख दुखः सुशीलता दुस्वभाव इत्यादि होते हैं । यदि जन्म जन्मान्तर में वर्तमान एक आत्मा नहीं होता तो ये बीज रूप धर्म अधर्म कहां रहते और इनका फल उन आत्मा ही को कैसे होता जिन्होंने वैसे कर्म किए होंगे । (न्यायमञ्जरी) पृ. ४७१-४७३

आत्मा के कई जन्म होते हैं यह जिन हेतुओं से सिद्ध होता है उन्हीं से यह भी सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है। अर्थात् जैसे इस जन्म की बातों से इससे पहिले का जन्म सिद्ध होता है वैसेही इस जन्म में हुई बातों से अग्रिम जन्म सिद्ध होगा। क्योंकि जन्म न होगा तो इस जन्म के किए हुए कर्म का फल कब होगा? जन्म लेने वाले के पूर्व जन्म के किये हुए कर्मों ही के अनुसार जब जन्म सिद्ध हुआ तब आत्मा नित्य है सो भी सिद्ध होता है।

इस सब का संक्षेप तात्पर्य यह है कि चीजों का देखने वाला और उनका स्मरण करने वाला कोई एक ही वस्तु है यह अवश्य मानना पड़ता है। यह एक वस्तु ऐसी होगी जो कि देखने के समय से लेकर स्मरण के समय तक अवश्य स्थिर रहेगी। कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि बीस पचीस बरस पहिले की देखी हुई चीज़ का आज स्मरण होता है। इससे यह एक वस्तु बरसों तक स्थिर रहने वाला अवश्य होगा। यह एक वस्तु शरीर नहीं हो सकता क्योंकि शरीर दस बीस बरस तक एक नहीं बना रहता। यह इन्द्रिय भी नहीं हो सकता क्योंकि एक इन्द्रिय की देखी हुई चीज दूसरे इन्द्रिय से नहीं अनुभूत हो सकती है। देखा हमने आंख से, फिर दस बरस बाद स्मरण करेंगे दूसरे इन्द्रिय ही से, ऐसा नहीं हो सकता। इससे अनुभव और स्मरण दोनों का करने वाला इन्द्रिय नहीं हो सकता। (तात्पर्यटीका, पृ. १४२)

आत्मा अनेक है। वेदान्तियों की तरह नैयायिकों ने आत्मा को एक नहीं माना है। यह न्यायमंजरी (पृ. ४२९) में स्पष्ट कहा है। और सूत्र १। १। १० से भी स्पष्ट सूचित होता है। जब इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान ये ही आत्मा के चिह्न हैं, येही इसके गुण हैं, तो फिर एक आत्मा कहां से होगा? इच्छा द्वेष इत्यादि तो अलग पाये जाते हैं। हम इच्छा करते हैं कि मिठाई खायँ, मेरा मित्र खटाई खाने की इच्छा करता है। मुझे सुख है, मेरे मित्र को दुःख है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि आत्मा अनेक है। इसी से नैयायिकों का मत है कि आत्मा अनेक है, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है।

जो आत्मा संसार को रचता है वह ईश्वर है। इसका निरूपण

गौतम ने चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में किया है।

ईश्वर या ब्रह्मा के शरीर ही से जगत् की उत्पत्ति है या स्वतन्त्र ईश्वर ही संसार का कारण है, इन दोनों पक्षों का २० सूत्र तक खंडन करके २१ सूत्र में गौतम ने अपना सिद्धान्त बतलाया है। परन्तु जिस ढंग से ये सूत्र पाए जाते हैं उससे सूचित होता है कि यह सिद्धान्त गौतम का नहीं है। मतान्तरों में इस मत का निरूपण पाया जाता है। और इन मतान्तरों को भाष्यकार ने 'प्रवादुकानाम्प्रवाद' कहा है। यद्यपि वार्तिककार कहते हैं कि यह सिद्धान्त गौतम का ही है। इस मत का सारांश यह है। ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है। परन्तु स्वतन्त्र नहीं। संसार में जन्म लेने वाले जितने जीव हैं उनके पहिले के कर्मों के अनुसार ईश्वर संसार में पदार्थों को उत्पन्न करता है। जब जीवों के धर्म के फल के भोग का समय आता है तो उनके सुख के अनुकूल पदार्थों को और जब अधर्म के फल दुःख के भोगने का समय आता है तब दुःख देने वाले पदार्थों को, ईश्वर उत्पन्न करता है। ईश्वर का ज्ञान केवल आगम से होता है, प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द इन प्रमाणों से ईश्वर अतीत है। वह इन प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। इससे ईश्वर का अस्तित्व स्थिर करना असम्भव है, ऐसा भाष्य में लिखा है (पृ-२०१) परन्तु वार्तिक में कहा है कि ईश्वर है, इसमें यही प्रमाण है कि प्रकृति या परमाणु सब अचेतन है। इससे इनका पहिला व्यापार बिना किसी चेतन की प्रेरणा से नहीं हो सकता, बिना चेतन की प्रवृत्ति यदि रहे भी तो ऐसी प्रवृत्ति बराबर होती ही रहेगी, कभी होगी कभी नहीं ऐसा नहीं हो सकेगा। इनके व्यापार के बिना कोई चीज बनही नहीं सकती। इसी से यह सिद्ध हो गया है कि प्रकृति या परमाणु, जो कुछ संसार का समवायिकारण माना जाय, इनका प्रवर्तक कोई नित्य ज्ञान क्रियाशक्ति वाला चेतन अवश्य है। इसी का नाम ईश्वर है। जीव आत्माओं ही का ऐसा प्रवर्तक नहीं मान सकते क्योंकि यदि ये प्रवर्तक होते तो ये अपने को दुःख देने वाले पदार्थों को नहीं उत्पन्न होने देते।

जीवों के धर्म अधर्म के अनुसार ईश्वर सृष्टि करता है। इस पर एक शंका यह होती है कि ईश्वर का व्यापार क्यों होता है।

किसी प्रयोजन, किसी मतलब ही से चेतन की प्रवृत्ति होती है। ईश्वर को तो किसी बात की आकांक्षा नहीं हो सकती जिसके पूर्ण करने के लिये उसका व्यापार होता, फिर ईश्वर किस मतलब से सृष्टि करता है। इसका समाधान वाचस्पति मिश्र ने यह किया है कि जगत् की सृष्टि करने में ईश्वर का स्वार्थ कारण नहीं है, दूसरे जीवों के ऊपर कृपा करके ही वह सृष्टि करता है। इस पर यह शंका हो सकती है कि यदि कृपा ही से सृष्टि होती तो संसार में फिर सुखही सुख होता, दुःख कभी नहीं होता। इसका उत्तर यह है कि धर्म से सुख अधर्म से दुःख, इस न्याय का उलटना ईश्वर का काम नहीं है। जो अधर्म करेगा उसको दुःख अवश्य होगा। इसका कारण इतना ही है कि जो जैसा धर्म अधर्म कर आया है उसी के अनुसार सुख दुःख वह भोग करेगा। कम या बेशी नहीं। इसी से सृष्टि के आरम्भ ही में ईश्वर का व्यापार होता है, ऐसा मानना भ्रम है। नित्य हर दम ईश्वर का व्यापार हो रहा है (वार्तिक पृ० ४७१)।

जीव आत्माओं की तरह ईश्वर में भी संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न ये सब गुण हैं। भेद इतना ही है कि जीवात्माओं में ये सब गुण अनित्य हैं, ईश्वर के नित्य। जीवात्माओं में अधर्म, अज्ञान, प्रमाद इत्यादि दोष वर्तमान हैं और ईश्वर में ये नहीं हैं। ईश्वर में धर्म, ज्ञान समाधि और अणिमा लघिमा महिमा ईशिता इत्यादि गुण हैं। जीवात्माओं का ज्ञान बुद्धि अनित्य है, ईश्वर के नित्य हैं। ईश्वर के गुण के विषय में न्याय मंजरी (२०१) में यों लिखा है—

ईश्वर सर्वज्ञ है, उसका ज्ञान नित्य है, सभी इसके प्रत्यक्ष ही नित्य हैं, सकल विषय में ईश्वर का ज्ञान एकही है, दुःख द्वेष संस्कार को छोड़ और सब आत्मा के गुण ईश्वर में हैं, पर सभी नित्य हैं। धर्म इनमें है सो मान लेने में कुछ हानि नहीं है। सुख नित्य है, इच्छा भी नित्य है प्रयत्न और ज्ञान भी नित्य है। ईश्वर का शरीर नहीं है (पृ० २०२)। इससे आत्मा के जितने अच्छे गुण हैं सभी ईश्वर में हैं। इसी से ईश्वर को एक आत्मा-विशेष माना है।

ईश्वर में भी धर्म ही के भाव से अणिमादि अनित्य गुण हैं—ऐसा भाष्यकार ने कहा है (पृ० २०१) पर वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि वास्तव में ईश्वर के धर्म अधर्म नहीं हैं, उनकी जितनी क्रिया होती है सब उनकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के प्रभाव से और ये दोनों शक्तियां नित्य हैं। वार्तिक (पृ० ४६८) में लिखा है कि ईश्वर को धर्म नहीं है। ईश्वर के ज्ञान और इच्छा अव्याहत हैं।

दूसरा प्रमेय—शरीर

आत्मा का जन्म अनादि है और बराबर होता जायगा ऐसा कह आये हैं। जन्म तभी होता है जब आत्मा को किसी शरीर से सम्बन्ध होता है। अर्थात् शरीरग्रहणही जन्म है। शरीर का ग्रहण भी पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के द्वारा सुख या दुःख के भोगने ही के लिये होता है। फिर आत्मा के जितने सुख दुःख होते हैं सब इन्द्रियों ही के द्वारा और ये इन्द्रियां शरीरही में रहते हैं। इससे शरीरही सब सुखों का और दुःखों का निदान है। इसी से आत्मा के अनन्तर दूसरा प्रमेय 'शरीर' बतलाया गया है। शरीर क्या है, इसके क्या लक्षण हैं, इत्यादि विचार गौतम ने १। १। ११ और ३। १। २८, सूत्रों में किया है।

चेष्टा इन्द्रिय और अर्थ के आश्रय या आधार को शरीर कहते हैं। जिस पदार्थ से सुख होने की आशा है उसके लेने के लिये, और जिस पदार्थ से दुःख की सम्भावना है, उसको दूर करने के लिये जो मनुष्य व्यापार करता है उसी को 'चेष्टा' कहते हैं। सूत्र तथा भाष्यकार ने ऐसा ही कहा है। यह लक्षण प्राणी मात्र के शरीर में तो लगता ही है, वृक्षादि में भी लग सकता है, क्योंकि वृक्ष में भी इस तरह के व्यापार पाए जाते हैं। जिस तरफ धूप रहती है उस तरफ वृक्ष अधिक फैलता है। लता के पास एक खूंटा गाड़ दीजिये तो कुछ हटी हुई भी लता उस पर चढ़ जायगी। इससे यह ज्ञात होता है कि वृक्ष यही समझ कर अपना शरीर उधर को फैलाता है कि उधर मुझे सुख मिलेगा। इससे सुख देने वाले पदार्थ के ग्रहण करने का व्यापार यहां भी पाया गया तो यह भी चेष्टाश्रय "शरीर" हुआ। पर वाचस्पति मिश्र ने (तात्पर्य पृ० १४७) साफ़ कहा है कि वृक्षादि के शरीर में यह लक्षण नहीं लगता क्योंकि उनका व्यापार सुखप्राप्ति के लिये या दुःख हटाने के लिये नहीं होता, और यहां पर 'शरीर' पद का मनुष्यशरीर ही से मतलब है। वार्तिक में कहा है कि सूत्र ३। १। २८ में शरीर को 'पार्थिव' (पृथिवी का बना हुआ) बतलाया है। यदि देवताओं के शरीर से

मतलब होता तो ऐसा न कहते, क्योंकि देवताओं के शरीर जल अग्नि वायु इत्यादि के भी होते हैं।

शंकरमिश्र ने वैशेषिकसूत्रोपस्कार (४।२५।) में कहा है कि असल में वृक्षों के भी शरीर हैं, परन्तु इनमें चेष्टा इन्द्रिय इत्यादि स्पष्ट नहीं देख पड़ते इससे इनका शरीर नहीं कहलाता।

इन्द्रियों का आश्रय भी शरीरही है। इसका अर्थ वार्तिककार कुछ बचाकर करते हैं। आश्रय पद से यहां आधार नहीं लेते। क्योंकि शरीर आधार तभी होता जब वह इन्द्रियों का समवायि कारण होता। और इन्द्रियों का तो कारण हो भी सकता है, परंतु मन और श्रोत्र ये दो इन्द्रियां नित्य माने गये हैं। इससे इनका कारण नहीं हो सकता। इससे शरीर को इन्द्रियों का आधार नहीं कह सकते। इसलिये 'शरीर इन्द्रियों का आश्रय है' ऐसा कहने का यह मतलब है कि शरीर की अवस्थाओं के अनुसार इन्द्रियों की अवस्था होती है—जब शरीर पुष्ट होता है तब इन्द्रियां भी अच्छी दशा में रहती हैं और जब शरीर में हानि पहुंचती है तब इन्द्रियों में ह्रास होता है। "जो आदमी देश काल और अपनी अवस्था के अनुसार पथ्याभोजन तैलमर्दन और कसरत से अपने शरीर को अच्छी दशा में रखता है उस आदमी की इन्द्रियां अधिक बलवान् और शुद्ध होती हैं उस पुरुष की अपेक्षा जो कुपथ्य भोजन और आलस्य इत्यादि से शरीर को बुरी हालत में रखता है" (न्यायमञ्जरी पृ० ४७५)।

अर्थ का भी आश्रय शरीर है। यहां अर्थ पद से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द विवक्षित हैं। इन्हीं के अनुभव से सुख दुःख होता है इससे ये अर्थ कहलाते हैं (सूत्र १।१।१४)—इसका भी आश्रय शरीर है। अर्थात् इनसे जब इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध से उत्पन्न सुख दुःख उसी आत्मा को होता है जिस का शरीर है। शरीर के रहने ही से रूप रस इत्यादि से सुख दुःख होता है। शरीर न हो तो इन अर्थों के रहते भी इनका अनुभव या उनसे सुख दुःख आत्मा को नहीं होता। इसी से शरीर रूप रस इत्यादि अर्थों का आश्रय कहलाता है।

शरीर ही सब सुख दुःखों के अनुभव की जड़ है। इससे वह

हेय है। अर्थात् यदि मनुष्य मुक्त होना चाहे तो उसका शरीर से छुटकारा पाना ही इष्ट होगा। क्योंकि सुख दुःख के भोग का घर ही शरीर है। यह जब तक है तब तक भोग से छुटकारा नहीं। और जब तक भोग है तब तक मुक्ति असम्भव है। इसी लिये शरीर क्या है सो ज्ञान मुक्ति के लिये आवश्यक होता है।

यह शरीर किन चीज़ों से बना है? कुछ लोगों का मत है कि शरीर पृथिवी जल वायु अग्नि आकाश इन पांचों भूतों से मिल कर बना है। शरीर में यदि पृथिवी का अंश नहीं होता तो इसमें गन्ध नहीं होता। यदि जल का अंश नहीं होता तो शरीर में जो आर्द्रता देख पड़ती है सो नहीं होती, यदि वायु का अंश न होता तो श्वास प्रश्वास नहीं होता, यदि अग्नि का अंश न होता तो उष्णता वा अन्न का पचाना न होता, यदि आकाश का अंश न होता तो शरीर के भीतर जो कहीं कहीं खाली है सो नहीं होता।

शरीर की उत्पत्ति तो इसका किस कारण से होता है सो विचार सूत्र ४-२-११ में किया है। नैयायिकों का सिद्धान्त ऐसा है। अनेक आत्माओं में वर्तमान जो धर्म और अधर्म के संस्कार तिसके परिपाक का अवसर-अर्थात् उन धर्म अधर्मों के फल भोगने का अवसर—जब आता है तब उस भोग के अनुकूल शरीर उत्पन्न करने की इच्छा ईश्वर को होती है। उसी इच्छा के प्रभाव से परमाणुओं में चलन पैदा होती है। इस चलन से परमाणुओं में परस्पर संयोग होकर द्व्यणुक बनकर त्रसरेणुकादिक्रम से समग्र शरीर तयार हो जाता है।

नैयायिकों के मत से शरीर पांच भूतों से नहीं बना है। सूत्र ३। १। २८२९ में कहा है की शरीर पृथिवी ही से बना है। अर्थात् शरीर केवल पृथिवी के परमाणुओं के मिलने से बना है। इनका कहना है कि शरीर यदि पृथिवी और जल या अन्य भूतों के परमाणुओं के मिलने से बना होता तो इसमें गन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि गन्ध पृथिवी ही में पाया जाता है। और जब दो तरह की दो गुण वाली चीज़ों के मिलने से कोई तीसरी चीज बनती है तो उन दोनों चीजों का जो प्रधान गुण है वह उस तीसरी चीज़ में नहीं पाया जा सकता। जैसे लाल

और पीला पानी अगर साथ मिलाया जाय तो पानी का रंग न तो लालही रहेगा और न पीला। एक तीसरी ही नारंगी का रंग उस जल में हो जायगा। इसी तरह यदि पृथिवी और जल परमाणुओं के मिलने से कोई चीज़ बनती तो उस चीज़ में न तो गन्ध ही पाई जाती और न जल के गुण ही, एक विलक्षण तीसरा ही गुण उसमें होजाता। इसी तरह और भी किसी दो या अधिक भूतों के परमाणुओं के मिलने से जो कोई चीज़ पैदा होती तो उनमें इनके गुण जो शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध हैं इनसे विलक्षणही कोई गुण उस चीज में पाया जाता। परन्तु हम स्पष्ट देखते हैं कि शरीर एक कठोर पदार्थ है और उसमें गन्ध एक प्रधान गुण है—इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह शरीर अवश्य ही ऐसे भूत के परमाणुओं के मिलने से बना है जिनमें कठिनता और गन्ध ये दोनों गुण हैं। ऐसा केवल पृथिवी भूत है।

अब यह शंका होती है कि यदि शरीर पृथिवीपरमाणु से बना है तो शैत्य इत्यादि जलादि भूत के जो चिह्न इसमें पाये जाते हैं वे कहां से आए। इसका समाधान यह है कि यद्यपि शरीर पृथिवी के परमाणुओं से बना है और इसका समवायि कारण पृथिवीपरमाणु ही हैं, तथापि और चार भूत जल, वायु, अग्नि, आकाश भी इसमें सहकारी कारण होते हैं। जैसे दीवार मिट्टी ही की बनती है, मिट्टी ही उसका समवायि कारण है, परन्तु पानी चूना, इत्यादि भी उसमें सहकारी कारण होते हैं।

शरीर पृथिवीपरमाणु से बना है इसमें श्रुति भी प्रमाण है। अग्निष्टोमयाग में जब पशु को मारते हैं तब उसके एक एक अंग को अपने अपने समवायिकारण में लीन हो जाने के सूचक मन्त्र कहे जाते हैं। 'चक्षुरिन्द्रिय सूर्य में जाय' इत्यादि कह कर "शरीर तुम्हारा पृथिवी में लीन हो जाय" ऐसा कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि शरीर का समवायिकारण पृथिवी ही है।

एक एक आत्मा का अधिष्ठानरूप शरीर कैसे उत्पन्न होता है सो सूत्र २. २. ६२-६३ के भाष्य में लिखा है। पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के अनुरूप शरीर उत्पन्न होता है। इस जन्म में जो मैं कर्म करता हूं उससे मेरी आत्मा में धर्म अधर्म रूप संस्कार उत्पन्न

होता है इन्हीं संस्कारों के द्वारा अगले जन्म में मेरा सुख दुःख होने वाला है, इसी से वैसे सुख दुःख भोगने के योग्य शरीर की उत्पत्ति इन्हीं संस्कारों के द्वारा होती है। इन्हीं संस्कारों के द्वारा पृथिव्यादि द्रव्य संघटित होते हैं, इन्हीं से मेरा दूसरा शरीर बनता है। प्रायः लोगों को ऐसा विश्वास है कि स्त्री पुरुष के संयोग से शरीर की उत्पत्ति होती है। परन्तु यदि ऐसा होता तो जब जब ऐसा संयोग होता तब तब हर बार शरीर उत्पन्न होता। पर ऐसा नहीं होता। इस लिये स्वीकार करना पड़ता है कि स्त्री पुरुष संयोग के अतिरिक्त अवश्य और कुछ कारण है। यह कारण शरीर ग्रहण करनेवाली आत्मा का पूर्व कर्म है। इसी के द्वारा शरीर बनता है (सूत्र ३, २, ६८-६९,)। फिर अगर केवल स्त्री पुरुष संयोग द्वारा पृथिव्यादि द्रव्य के मिलने ही से शरीर उत्पन्न होता तो सब मनुष्यों के शरीर एक ही से होते, सबों को एक ही तरह के रोगादि होते। पर ऐसा नहीं होता। ऐसे शरीर के स्वरूप या रोगादि अवस्था के भेद का कारण केवल पूर्वजन्म का कर्म ही हो सकता है (३, २-७०)। इसी से भोग से पूर्व कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्ति होती है, फिर शरीर उत्पन्न नहीं होता।

तीसरा प्रमेय।

इन्द्रिय

तीसरा प्रमेय इन्द्रिय है। इसका विचार इस लिये आवश्यक है कि इन्द्रियों ही के द्वारा सांसारिक सुख दुःख होते हैं। 'जन्म मरणादि इन्हीं के द्वारा होता है इससे ये हेय हैं'—ऐसा विचार करते हुए आदमी को इनसे और इनके द्वारा उत्पन्न सुख दुःख से वैराग्य उत्पन्न होता है। यह वैराग्य मोक्ष-प्राप्ति में उपकार करता है (न्या. म. ४७७)।

इन्द्रिय नाम उन करणों का है जो स्वयं किसी इन्द्रिय से ज्ञात न हों पर जिनके द्वारा उनके अर्थों का—रूप रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषयों का-ज्ञान होता है। (भाष्य-वार्तिक १।१।१२)।

ऐसे करण पांच हैं–(१) घ्राण, जिससे गन्ध का ग्रहण होता है (२) रसन, जिससे रस अर्थात् खट्टे मीठे इत्यादि का ग्रहण होता है। (३) चक्षु, जिससे रूप-रंग का ग्रहण होता है। (४) त्वक्, जिससे स्पर्श अर्थात् ठंढे गरम का ग्रहण होता है। (५) श्रोत्र, जिससे शब्द का ग्रहण होता है।

ये पांचों इन्द्रियां किसी एक ही भूत के परमाणुओं से नहीं बनतीं। यदि ऐसा होता तो पांचों एक ही तरह की, एक ही स्वभाव की, होतीं और सब एक ही चीज़ के ग्रहण के निमित्त-कारण होतीं। ऐसा देखा नहीं जाता। ये पृथक् पृथक् पांच चीजों के ग्रहण के करण होती हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि जिस अर्थ के ग्रहण में जो इन्द्रिय करण होती है वह इन्द्रिय उसी भूत से बनती है जिस भूत का वह अर्थ खास गुणवाला होता है। घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है इस लिए यह इन्द्रिय पृथिवी से बनी है क्योंकि गन्ध पृथिवी ही में होती है। रसनेन्द्रिय जल से बनी है क्योंकि रस जल ही का खास गुण है। चक्षु तेज से बना है क्योंकि रूप तेज ही का खास गुण है। त्वक् वायु से बना है क्योंकि स्पर्श वायुही का खास गुण है। श्रोत्र आकाश से बना है क्योंकि शब्द आकाशही का खास गुण है। (सूत्र. १. १. १२)

ये भूत पांच ही हैं। पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु और आकाश (सूत्र १। १। १३)। इन्हीं के गुण गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं (१। १। १४)। घ्राणेन्द्रिय नाक में है, रसनेन्द्रिय जिह्वा में, चक्षुरिन्द्रिय आंख में, त्वक् इन्द्रिय शरीर भर के चर्म में, और श्रोत्रेन्द्रिय कान के भीतर। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा सुख दुःख होते हैं। इससे सुख दुःख के कारण जो धर्म-अधर्म हैं वेही इन्द्रियों के भी कारण होते हैं। जो आदमी धार्मिक है और उस धर्म के अनुसार सुख भोग करने वाला है उसकी इन्द्रियां सुख उत्पन्न करनेवाली होती हैं; पापियों की इन्द्रियां दुःख उत्पन्न करनेवाली होती हैं।

इन्द्रियों के विषय में मतभेद कई तरह के पाए जाते हैं। सांख्य के मत से इन्द्रिय अहंकार का विकार है अर्थात् अहंकार ही से इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। नैयायिकों के मत से मन को

छोड़कर [मतान्तर में श्रोत्रव्यतिरिक्त] चारही इन्द्रियां भौतिक हैं अर्थात् पृथिव्यादि पांच भूतों से बनी हुई हैं। बौद्धों के मत से शरीर में जो प्रत्यक्ष गोलक देखा जाता है-जैसे आंख की पुतली-वही इन्द्रिय है, पर नैयायिकों के मत से जो अंग देखे जाते हैं वे इन्द्रियाँ नहीं हैं वे केवल इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं। जैसे 'चक्षु' इन्द्रिय तैजस-आग का बना हुआ-पदार्थ है जो आंखों की पुतलियों में आश्रित है। इन के मत से इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं होता, ये अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रिय पृथिव्यादि पांचों भूतों की बनी हुई हैं-इसका प्रमाण यह है कि हम देखते हैं कि पृथिवी के अतिरिक्त और कोई वस्तु गन्ध का व्यंजक नहीं होती है। पृथिवी से अलग कहीं गन्ध नहीं पाई जाती। इसी तरह जल से पृथक् रस का ग्रहण नहीं होता। अग्नि से पृथक् रूप का ग्रहण नहीं होता और आकाश से पृथक् शब्द का ग्रहण नहीं होता। पांचों भूत पांचों अर्थात् गन्धादि के व्यंजक हैं। ये ही पांचों अर्थ घ्राण आदि इन्द्रियों से प्रतीत होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस इन्द्रिय से गन्ध का ग्रहण होता है वह गन्धव्यञ्जक भूत अर्थात् पृथिवी से बनी है। रस का ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय रसव्यंजक भूत जल से बनी है-इत्यादि।

ये मतभेद अमूलक नहीं हैं। आंखों की पुतलियाँ जब तक खुली रहती हैं तभी तक चीज़ें देखी जाती हैं। इससे मालूम होता है कि पुतलियों में जो भौतिक पदार्थ देखा जाता है वही 'चक्षु' इन्द्रिय है। परन्तु साथ ही हम यह भी देखते हैं कि जो चीजें आंखों से देखी जाती हैं वे आंखों से बहुत दूर रहती हैं। यदि इन्द्रिय भौतिक पदार्थ होती तो दूर की चीजों का ग्रहण कैसे कर सकती। इससे ज्ञात होता है कि यह इन्द्रिय एक ऐसी वस्तु का विकार है जो सर्वत्रगामी है। ऐसी ही वस्तु को सांख्य ने अहंकार माना है। यदि इन्द्रिय पृथिवी आदि से बनी होती तो दूर की चीजों का ग्रहण कभी न कर सकती। सर्वत्रगामी वस्तु का विकार इन्द्रिय है यह इससे भी सिद्ध होता है कि इन्द्रियों से बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी चीजों का ग्रहण

होता है–आंखों से हम पर्वत को भी देखते हैं और सरसों के दाने को भी । इन्द्रिय यदि भौतिक होती तो इन्द्रिय या तो बड़ी ही चीज़ों का ग्रहण करतीं या छोटी ही चीज़ों का । (सूत्र. ३ । १ । ३१) ।

इसका समाधान नैयायिकों ने इस प्रकार किया है कि दूर की चीज़ें जो देखी जाती है-और जो बड़ी छोटी सब चीज़ें देखी जाती हैं इसका कारण यह है कि आंखों की ज्योति बाहर जा कर जिन जिन चीज़ों पर पड़ती है उनका ग्रहण आँखों से होता है । इससे हर चीज़ के ग्रहण मात्र से यह नहीं सिद्ध होता कि इन्द्रिय सर्वगामी है या सर्वगामी वस्तु का विकार है । जब कोई चीज़ देखी जाती है तब आंखों की रोशनी बाहर जा कर उस चीज़ का प्रकाश करती है । यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि जब आँखों के सामने कोई आवरण आता है तब उस आवरण की दूसरी ओर की चीज़ नहीं देखी जाती । दीवार से छिपी हुई चीज़ नहीं देखी जाती । यदि इन्द्रिय सर्वगामी होती तो दीवार के भीतर भी जाती, उसका व्यापार दीवार से रुक न सकता । भौतिक होने पर 'चक्षु' इन्द्रिय दूर की चीज़ों को कैसे ग्रहण कर सकती है इस प्रश्न का कोई उत्तर न होता यदि आंख की पुतलियां जो देखी जाती हैं वे ही 'चक्षु' इन्द्रिय होतीं । पर नैयायिकों के मत से ऐसा नहीं है। पुतलियों के भीतर एक सूक्ष्म तैजस पदार्थ ज्योतिस्वरूप है, वही 'चक्षु' इन्द्रिय है । यह तैजस पदार्थ आंखों से बाहर जा सकता है । इस से दूर की चीज़ों का ग्रहण अच्छी तरह हो सकता है ।

यदि कुल इन्द्रियां प्राप्यकारी होतीं, अर्थात् उन्हीं चीज़ों का ग्रहण कर सकतीं जिन पर वे जाकर पड़ती हैं तो ऊपर कही हुई युक्तियां ठीक होतीं । पर इसमें मत भेद है । कुछ लोग कहते हैं कि 'रसन' 'स्पर्श' ये दो इन्द्रियां तो स्पष्ट प्राप्यकारी हैं। जब तक खाने की चीज़ें जिह्वा में नहीं लगतीं तब तक रस का ग्रहण नहीं होता, इसी प्रकार जब तक चीज त्वचा से छू नहीं जाती तब तक उसके स्पर्श का ग्रहण नहीं होता । पर 'घ्राण' से दूर की महक का तथा 'चक्षु' से दूर के रूप का और श्रोत्र से दूर के शब्द का

ग्रहण होता है। इससे ये तीनों इन्द्रियां अवश्य 'अप्राप्यकारी' हैं। अर्थात् इन इन्द्रियों से जिन चीज़ों का ग्रहण होता है इन्द्रियां उनके ऊपर जा कर नहीं पड़ती। नैयायिकों का मत ऐसा नहीं है। सामान्यतः हम यह देखते हैं कि जितने कारक-हथियार-हैं वे अपनी चीजों के ऊपर अवश्य जा कर पड़ते हैं। जब कुठार से लकड़ी काटी जाती है तब जब तक कुठार उस लकड़ी पर जाकर नहीं गिरता तब तक कटना नहीं होता। इन्द्रिय भी एक प्रकार का कारक-हथियार-है। इसका भी अपने ग्राह्य वस्तु पर जाकर गिरना आवश्यक होगा। चक्षु, घ्राण, श्रोत्र यदि अप्राप्यकारी होते तो दीवार में छिपी हुई चीज़ों का रूप, दस बीस कोस का शब्द या गन्ध, ये सब भी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष गृहीत हो सकते। शब्द आकाश में उत्पन्न होकर इन्द्रिय से जब सम्बद्ध होता है तभी उस शब्द का ग्रहण होता है। इसी तरह दूर की गन्ध भी वायु द्वारा जब शरीर के भीतर के पार्थिव इन्द्रियों में आकर लगती है तभी उस गन्ध का ग्रहण होता है। दूर के रूप का ग्रहण जब होता है तब आंख के भीतर का तैजस पदार्थ बाहर जा कर उस रूप के ऊपर जा कर लगता है। आंखों की ज्योति बाहर जाती हुई कभी देखी नहीं जाती सो ठीक है। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि ऐसी ज्योति है ही नहीं। जिसको हम प्रत्यक्ष नहीं देखते उसको अनुमान से जान सकते हैं। 'चक्षु' इन्द्रिय का तैजस ज्योतिस्वरूप होना अनुमान से सिद्ध है। प्राप्यकारी सब इन्द्रियां हैं, यह भी अनुमान से सिद्ध है। यह प्राप्यकारित्व तब तक नहीं हो सकता जब तक आंख की ज्योति का बाहर निकलना न माना जाय। इससे यह भी अनुमान सिद्ध हुआ। आंख की ज्योति की किरणें नहीं देख पड़तीं इसका कारण यह है कि वे किरणें उतनी तेज नहीं हैं जितनी बाहर की ज्योति। इसी से उनकी रौशनी दब जाती है। जैसे दोपहर दिन को लम्प की रौशनी फैलती नहीं देख पड़ती तो इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वह रौशनी फैलती ही नहीं। उसकी रौशनी सूर्य की रौशनी से दब जाती है। इसी से वह फैलती नहीं देखी जाती। (सूत्र- ३। १। ३९) यह भी नहीं कहा जा सकता कि चक्षु इन्द्रियों से निकलती हुई

ज्योति कभी नहीं देखी जाती ! क्योंकि वृषदंश जो एक प्रकार का जन्तु है वह जब अन्धकार में रहता है तब उसकी आंखों से निकली हुई रौशनी साफ़ देख पड़ती है । (सूत्र ३ १-४३)

दीवार से घिरी हुई चीजों पर आंख की रौशनी नहीं जा सकती पर स्फटिक, शिला, पानी इत्यादि पदार्थों से ढकी हुई चीजों का रूप अवश्य देखा जाता है । इसका कारण यह है कि स्फटिकादि पदार्थ आंख की रौशनी को नहीं रोक सकते । ये रोशनी को नहीं रोकते यह बात हम साफ देखते हैं । जब सूर्य की ज्योति स्फटिक के ऊपर पड़ती है तब उसके भीतर भी वह ज्योति देख पड़ती है और उसकी दूसरी ओर भी ॥

दर्पण में या जल में जो प्रतिबिम्ब देख पड़ता है उसका कारण सूत्र ३ । १ । ४६ में कहा है । यदि आंख की पुतली ही इन्द्रिय होती या 'चक्षु' कहलाती, अर्थात जो देखी जाती है वही इन्द्रिय होती तो आंख में लगा हुआ अंजन क्यों नहीं देख पड़ता ? सम्बद्ध तो वह रहताही है । हमारे मत से तो आंख से जो रौशनी निकलती है वह अंजन के ऊपर ही ऊपर बाहर निकल जाती है । इससे अंजन का देखना सम्भव नहीं होता है । जब दर्पण आंखों के सामने आता है तब आंखों से निकली हुई ज्योति दर्पण पर जाकर गिरती है । दर्पण इससे स्वयं देख पड़ता है । परन्तु दर्पण का स्वभाव है कि उसके भीतर ज्योति नहीं जाती । इससे ज्योति उसमें लग कर फिर मुख की ओर लौट कर मुख पर आ गिरती है, इससे मुख देखा जाता है । जिन जिन चीज़ों पर यह लौटती हुई रौशनी पड़ती है वे सब चीज़ें प्रतिबिम्ब में देखी जाती हैं । इसीसे मुख के साथ साथ मकान, दीवार आदि के भी कुछ अंश दर्पण में देखे जाते हैं । चीज़ों का स्वभाव ऐसा क्यों है यह शंका नहीं हो सकती । जैसी जो चीज़ देखी जाती है, जैसा जिसका स्वभाव अनुमानादि प्रमाण से सिद्ध होता है वैसा क्यों है-उस से दूसरे तरह का क्यों नहीं है-यह शंका कोई बुद्धिमान् आदमी नहीं कर सकता । [सूत्र० ३ । १ । ५०]

इन्द्रियां पृथिव्यादि भूतों से बनी हैं—क्योंकि जैसे पृथिवी, जल, वायु, आग, आकाश के गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शब्द खास गुण हैं वैसे

ही गुण क्रमशः घ्राण, रसन, त्वक्, चक्षु, श्रोत्र इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। घ्राण इन्द्रिय पृथिवी की बनी है क्योंकि गन्धादि पांचों गुणों में यह गन्ध ही का खास कर ग्रहण करती है। रसन इन्द्रिय जल की है क्योंकि यह रस ही का ग्रहण करती है। त्वक् इन्द्रिय वायु की है क्योंकि यह स्पर्श ही का ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय तैजस है क्योंकि यह रूप ही का ग्रहण करती है। श्रोत्र इन्द्रिय आकाश की है क्योंकि यह शब्द ही का ग्रहण करती है। [सू० ३ । १ । ६०]।

इन्द्रिय एक है या नाना? कुछ लोगों का मत है कि जितनी इन्द्रियां हैं सब शरीर में हैं और सभी इन्द्रियां त्वचा-चमड़े-ही में पाई जाती हैं। आंख की त्वचा में 'चक्षु' इन्द्रिय-नाक की त्वचा में 'घ्राण' इन्द्रिय इत्यादि। इस लिये एकही इन्द्रिय-'त्वक्' मानना चाहिये, नाना इन्द्रियां मानने की कुछ आवश्यकता नहीं है। इसी एक इन्द्रिय से सब प्रत्यक्ष ज्ञान होंगे [सूत्र-३ १-५१]।

नैयायिकों ने ऐसा नहीं माना है। इनका कहना है कि यदि एक ही इन्द्रिय होती तो जब हमको एक वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तब उसकी सारी विशेषताएं प्रत्यक्ष हो जातीं, जैसे जब हम आमके रंग को देखते उसी क्षण साथ ही हम को उस फल की महक, उसका स्वाद, उसकी ठंढक इत्यादि भी प्रत्यक्ष हो जाती। आत्मा के साथ मनका संयोग और मन के साथ इन्द्रिय से सम्बंध है ही, फिर रूपरस-गन्धस्पर्श सभी के प्रत्यक्ष होने में क्या बाधा होती। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। जब हम रूप देखते हैं उस समय गन्ध का ज्ञान नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि उस समय आत्मा और मन का सम्बन्ध उसी इन्द्रिय के साथ है जिससे रूप देखा जाता है, जिस इन्द्रिय से गन्ध का ज्ञान होता है उसके साथ उस समय सम्बन्ध नहीं है अर्थात् गन्ध की इन्द्रिय रूप की इन्द्रिय से पृथक् है (सूत्र ३. १. ५३)।

फिर यदि त्वक् ही एक इन्द्रिय होती तो जैसे दूर की वस्तु का रूप देखा जाता है वैसे ही दूर की वस्तु का स्पर्श भी जाना जाता। अर्थात् आंख और त्वक् यदि एक ही होतीं तो दूर की चीज़ की ठंढक या गरमी भी हम त्वक् से जान सकते। ऐसा

नहीं हो सकता । इससे भी सिद्ध होता है कि देखनेवाली इन्द्रिय 'त्वक्' नहीं हो सकती । (सू० ३ । १ । १४) ।

फिर यदि त्वक् ही एक इन्द्रिय होती तो जिस आदमी की आँखें फूट गई हैं उसको भी रूप का ज्ञान होता, वह रूप देख सकता, क्योंकि त्वक् तो उसके शरीर पर विद्यमान ही है ।

इन्द्रियों के 'अर्थ'—जिनका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, पांच ही हैं जैसा सूत्र १ । १ । १४ में कहा है । इन पांचों विषयों के ग्रहण के लिये एक एक खास इन्द्रिय होगी, इसलिये इन्हीं पांचो में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच विषय पृथक् पृथक् हैं । इनके ग्रहण के लिये भी वैसीही पाँच पृथक् पृथक् इन्द्रियां अवश्य होंगी । ये इन्द्रियां प्रत्यक्ष नहीं देखी जातीं, शरीर के भीतर रहती हैं । पर इनके अधिष्ठान या आश्रय शरीर में पृथक् पृथक् देखे जाते हैं । जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होता है उसका नाम 'त्वक्' है । यह समस्त शरीर में रहती है-समस्त शरीर से हमको गरम ठंढे का ज्ञान होता है । जिस इन्द्रिय से रूप का ग्रहण होता है वह आंख से बाहर निकलनेवाली ज्योति है । उसका नाम है 'चक्षु' । आँख के भीतर जो काली पुतली है वही ज्योति का अधिष्ठान है । गन्ध का ग्रहण जिससे होता है वह 'घ्राण' है । उसका अधिष्ठान नाक है । रस का ग्रहण 'रसन' इन्द्रिय से होता है । यह जिह्वा में है । शब्द का ग्रहण 'श्रोत्र' इन्द्रिय से होता है । यह कान के छिद्र के भीतर है । (भाष्य. पृ. १५८)

इन्द्रियों के व्यापार में भी फरक पाया जाता है । चक्षु इन्द्रिय आंख से बाहर जा कर अपने विषय का ग्रहण करती है, त्वक् इन्द्रिय बाहर नहीं जाती, विषय ही आ कर उसमें लगता है । यदि एक ही इन्द्रिय होती तो व्यापार में ऐसा भेद न पाया जाता । या तो रूप रस आदि सब के ग्रहण में इन्द्रिय बाहर जाती या सब ही आकर इन्द्रियों ही से मिलते ।

सांख्यों के मत में ग्यारह इन्द्रियां हैं-पांच ऊपर कही हुई-पांच 'कर्मेन्द्रिय'-वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ-और मन । नैयायिकों ने 'कर्मेन्द्रियां' नहीं मानी हैं । शरीर के भिन्न भिन्न अंग भिन्न भिन्न

कार्य करते हैं इससे ये 'इन्द्रिय' नहीं कहला सकते। मन के प्रसंग भी सूत्रकार और भाष्यकार का मत तो ऐसा ही ज्ञात होता है कि मन 'इन्द्रिय' नहीं है। सूत्र (१।१।९) में 'इन्द्रिय' को तीसरा प्रमेय कहकर मन को छठां 'प्रमेय' बताया है। फिर १।१।१२ सूत्र में स्पष्ट रूप से पांच ही इन्द्रिय बतलाये हैं। इसी से इनके 'अर्थ' भी १।१।१४ सूत्र में पांच ही बतलाये गये हैं। फिर भाष्य (पृ. २७-२८) में स्पष्ट कहा है कि स्मृति-अनुमान-शब्द-संशय-प्रतिभा-स्वप्न-ऊह-सुख, दुःख, ज्ञान, इतने तरह के ज्ञान का कारण 'मन' है। फिर 'मन' है इसके सबूत में १।१।१६ सूत्र में युक्तियां दिखलाई हैं। अब इससे यह स्पष्ट होता है कि यदि 'मन' इन्द्रिय माना जाय तो इसके द्वारा उत्पन्न जितने ज्ञान सब 'प्रत्यक्ष' होंगे। क्योंकि ये ज्ञान भी 'इन्द्रिय के सन्निकर्षजन्य' वैसेही होंगे जैसे रूप-रस आदि का ज्ञान। फिर तो अनुमान-शाब्द सभी ज्ञान 'प्रत्यक्ष' हो जायंगे। इससे यद्यपि मन 'ज्ञान करण' है तथापि उसको इन्द्रिय कहना ठीक नहीं-ऐसा सूत्र भाष्य का तात्पर्य भासित है।

न्यायमंजरी (पृ. ४९७) में यों लिखा है। मन के इन्द्रिय होते भी सूत्रकार ने इसका इन्द्रियों में परिगणन नहीं किया क्योंकि इन पांचों से मन का बड़ा भेद देख पड़ता है। पांचों इन्द्रिय-घ्राण आदि-भौतिक हैं-और एक ही अर्थ गन्ध आदि का ग्रहण करा सकते हैं। मन भौतिक नहीं है-और सब अर्थों के ग्रहण में कारण होता है-इससे इसको अलग कहा है।

सूत्रकार ने मन को इन्द्रिय नहीं माना है। पर भाष्य (पृ. १८) में कहा है कि वैशेषिकों ने इसको माना है और सूत्रकार ने इसका निषेध नहीं किया है इससे उनका भी यह स्वीकृत है। भाष्यकार की पंक्तियों से एक प्रकार का सन्देह उत्पन्न होता है। परंतु वार्तिककार, (पृ. ४०) ने स्पष्ट कह दिया है कि मन इन्द्रिय है। मनको पांचों इन्द्रिय से अलग सूत्रकार ने कहा है इसका कारण यह है कि इनमें उसमें बड़ा भेद है। वे एक ही एक ही अर्थ का ग्रहण करते हैं-मन सब अर्थों का ग्रहण करता है-इत्यादि।

फिर (१ । १ । १६) सूत्र के भाष्य में स्मृत्यादि ज्ञान को 'अनिन्द्रियनिमित्त—इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं—ऐसा बतलाया है।

नवीन नैयायिकों ने मन को छठां इन्द्रिय-अबाह्य-माना है। वाचस्पतिमिश्र ने इसलिये भाष्य के 'अनिन्द्रियनिमित्त' पद का अर्थ 'अबाह्येन्द्रियनिमित्त' बतलाया है। इनके ऐसा मानने का कारण ऐसा है। सुख दुःख के ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है, नवीन नैयायिकों ने आत्मा के ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना है-फिर जिस करण के द्वारा इनका ज्ञान होता है वह 'इन्द्रिय' अवश्य होगा। नहीं तो फिर 'सुखदुःखज्ञान' इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य कैसे होगा। इसीसे जो लोग मन को छठां इन्द्रिय मानते हैं वे इसका लक्षण 'सुखदुःखोपलब्धिसाधन' ऐसा करते हैं। और जैसे रूपोपलब्धिसाधन चक्षु को आंख के भीतर बतलाते हैं वैसाही हृदय के भीतर मन इन्द्रिय को बतलाते हैं। आत्मा को प्रत्यक्षगम्य मानने से मन का इन्द्रिय होना अवश्य मानना पड़ता है। (तर्कभाषा पृ. १ । १० । ६)

प्राचीन नवीन दोनों मत को मिलाकर न्यायमंजरी (पृ. ४८४) में कहा है—

न्यूनाधिकत्वशमनादत इन्द्रियाणि
पंचैव बाह्यविषयग्रहणात्क्षमाणि ।
अन्तःसुखादिविषयग्रहणोपयोगि
षष्ठम्मनस्तु कथयिष्यति सूत्रकारः ।

इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रकार ने जो पांच ही इन्द्रिय बतलाया उसका अर्थ यह है कि बाहरी वस्तुओं के ज्ञान के कारण पांच ही इन्द्रिय हैं। परन्तु सुख दुःखादि जो आभ्यन्तरिक-भीतर की चीजें हैं इनके ज्ञान का कारण इन्द्रिय मन है।

चौथा प्रमेय 'अर्थ' है। अर्थोंही के भोग से सुख दुःख होते हैं-इन्हीं अर्थों के द्वारा राग द्वेष होता है-और राग द्वेष ही संसार का मुख्य कारण है-इससे संसार से बचने के लिये अर्थके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान आवश्यक होता है। पांचों इन्द्रियों के विषय-जिनका ज्ञान पांचों इन्द्रियों से होता है 'अर्थ' कहलाते हैं। ये

पांच हैं ।–रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द । इनमें रूप, तेज या अग्निका गुण, 'चक्षु' इन्द्रिय का अर्थ है। रस, जल का गुण, रसन इन्द्रिय का अर्थ है । गन्ध, पृथिवी का गुण, 'घ्राण' इन्द्रिय का अर्थ है । स्पर्श, वायु का गुण, 'त्वक्' इन्द्रिय का अर्थ है । और शब्द, आकाश का गुण, 'श्रोत्र' इन्द्रिय का अर्थ है । (सूत्र १. १. १४) गन्ध-स्पर्श-रूप-रस-ये चार गुण पृथिवी के हैं । रस-रूप-स्पर्श-जल में, रूप स्पर्श-तेज में, स्पर्श वायु में, शब्द-आकाश में । ऐसा सूत्र ३।१।६१—६२ में कहा है ।

इसके विरुद्ध सूत्र ६३. ६४. ६५ में ऐसी शंका की गई है । "पृथिवी का गुण गन्धही है—क्योंकि इन पांचों अर्थों में से गन्ध हीं का व्यञ्जक यह होता है । अर्थात् पृथिवी की बनी हुई चीजों में विशेषतया गन्ध ही गृहीत होता है । इसी तरह जल में विशेषतया रस-अग्निमें रूप-आकाश में शब्द गृहीत होता है । यद्यपि पृथिवी की बनी हुई चीजों में रस स्पर्श आदि भी गृहीत होते हैं—जैसे मिट्टी के टुकडे में भी स्वाद होता है—वह ठंढा या गरम ज्ञात होता है—तथापि ये गुण रस या स्पर्श पृथिवी के नहीं हैं, किन्तु उस चीज में पृथिवी से मिले हुए जो और भूतजल और वायु हैं–उन्हीं के ये गुण हैं । अर्थात् मिट्टी के टुकड़े में जो जल मिला हुआ है उसी से उसमें स्वाद भासित होता है-वह स्वाद उसी जल का है-इसी तरह गरमी या ठंढक उस टुकड़े के भीतरवाला वायु का गुण है । प्रायः सभी वस्तु पांचो भूतों के मिलने से बनते हैं–तथापि एक वस्तु 'पार्थिव' कहलाता है दूसरा 'जलीय' इत्यादि—इसका कारण यह है कि जिसमें जिस गुण का प्रधानतः ग्रहण होता है उस गुण के व्यंजक भूत का बना हुआ वह माना जाता है ।"

इस मत का खण्डन ६७ सूत्र में किया है । यदि पृथिवी में रूप नहीं होता तो पृथिवी आंख से कभी न देखी जाती । इससे जैसा ६१—६२ सूत्र में कहा है सो ठीक है । इतना अवश्य है कि गन्धही पृथिवी का प्रधान गुण है-रसही जलका-स्पर्शही वायुका-रूपही अग्नि का और शब्द ही आकाश का । इनके प्रधान गुण होने का

यह कारण है कि अपने चारों गुणों में से गन्धही मात्र का व्यंजक पृथिवी है-रस मात्र का व्यंजक जल इत्यादि। इसी से पृथिवी के बने हुये इन्द्रिय-घ्राण-में गन्धही प्रधान गुण है। इससे इस इन्द्रिय से घ्राण ही का ग्रहण होता है। (२. १. ६८)

ऐसा मत भाष्यकार का स्पष्ट है सो १. १. १४ सूत्र के भाष्य से ज्ञात होता है। वार्तिककार इसको नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि (पृ. ७४) "पृथिवी आदि के गुण-गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द-ये पांचो इन्द्रियों के अर्थ हैं"। ऐसा सूत्र का अर्थ करने से गन्धादि गुणही इन्द्रियों से गृहीत होते-पृथिवी जलादि इन्द्रियों से नहीं गृहीत होते ऐसा अर्थ होगा-सो ठीक नहीं-क्योंकि पृथिवी जल इत्यादि सभी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष गृहीत होते हैं। ३-१. १. सूत्र में सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि एकही वस्तु दर्शन इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय दोनों से गृहीत होता है। यदि रूप-स्पर्शही इन्द्रियों से गृहीत होते तो जिस वस्तु में ये दो गुण हैं वह इन्द्रियों से गृहीत होता है-यह कैसे कहा जा सकता। इससे सूत्रकार के मत में जिन वस्तुओं में रूपादि गुण रहते हैं वे अवश्य इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। इससे सूत्र का अर्थ ऐसा उचित है-"पृथिवी इत्यादि और गुण ये इन्द्रियों के अर्थ हैं।" और इनमें गन्ध-रस-रूप-स्पर्श और शब्द ये पांचो गुण क्रम से घ्राण-रसन-चक्षु-त्वक् और श्रोत्र इन्द्रिय से ही गृहीत होते हैं।" 'पृथिव्यादि' से यहां पृथिवी-जल-अग्नि से तात्पर्य है (वार्तिक पृ. ७५)-ये तीन भूत इन्द्रिय से गृहीत होते हैं, और 'गुण' पदसे जितने गुण वस्तुओं में होते हैं वे सब विवक्षित हैं। ये गुण वार्तिककार के मत से यों हैं। (पृ० ७५) संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-स्नेह-वेग-कर्म-सामान्य-(पृ० ७५) और अभाव (पृ० ७६)-विशेष-समवाय। इनमें समवाय को छोड़ और सबगुण 'आश्रितगुण' कहलाते हैं (वार्तिक पृ० ७५)। और गन्ध-स्पर्श-रूप-रस-शब्द-ये पांच सूत्र ही में कहे हैं। इन पांचो गुणों के अतिरिक्त पृथिवी-जल-अग्नि दो दो इन्द्रियों से गृहीत होते हैं और बाकी गुण समवाय और अभाव—ये सब इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। (वार्तिक पृ० ७६)।

ऐसा मत वार्तिककार का है। न्यायमंजरी (पृ. ४८४-४८५) में वार्तिक के मत का खंडन करके भाष्यकार के मत का स्थापन किया है। इनका कथन है कि द्रव्य कर्म सामान्य और संख्या परिमाण आदि गुण भी अवश्य इन्द्रियों से गृहीत होते हैं-परन्तु सूत्रकार का उद्देश्य यहां इन्द्रियों से जितने वस्तु गृहीत होते हैं उनके गिनाने से नहीं है-उनका उद्देश्य केवल उन्हीं अर्थों के बतलाने से है जो कि इन्द्रियों से गृहीत होकर रागद्वेष के मुख्य कारण होते हैं। ऐसे रूप रस गन्ध स्पर्श तथा शब्द ये ही पांच हैं। येही पांच 'अर्थ' रागद्वेष के साक्षात् कारण होते हैं। इससे सूत्रकार ने इन्हीं पांचों को कहा है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि येही पांच इन्द्रियों से गृहीत होते हैं-ऐसा सूत्रकार का तात्पर्य है।

नवीन नैयायिकों ने वार्तिककारही का अर्थ स्वीकार करके 'द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय अभाव'—इन सातों 'वैशेषिक' पदार्थों को 'अर्थ' पद से विवक्षित माना है। (तर्कभाषा पृ० १०७-१४६)। भाष्यकार ने (सू. १. १०६ पृ. २४) द्रव्य गुण कर्म विशेषसामान्य समवाय ये प्रमेय हैं-ऐसा मतान्तर करके बतलाया है। वार्तिककार ने पृ. ७० पंक्ति २१—२२ में जो लिखा है उससे ज्ञात होता है कि उनके मत से द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय इतने ही में सकल पदार्थ अन्तर्गत हैं। वार्तिककार ने केवल पृथिवी जल-अग्नि-और शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध संख्या परिमाण इत्यादि और गुण ही के साथ कर्म सामान्य विशेष समवाय अभाव—इतने ही को 'अर्थ' बतलाया है (पृ० ७५-७६)। यहां वैशेषिकों के पदार्थ गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय तो कहे हैं। भेद इतना ही है कि कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभाव को गुण ही में अन्तर्गत कर लिया है। वैशेषिक द्रव्यों में से पृथिवी-जल-अग्नि को तो कहाही है। यहां यह स्पष्ट नहीं समझ पड़ता कि वायु और आकाश को क्यों अलग कर दिया। कारण इसका इतना ही हो सकता है कि पृथिवी जल और तेज में एक से अधिक गुण हैं इस से इनका गुण से अतिरिक्त प्रत्यक्ष होना अवश्य मानना पड़ता है। परन्तु वायु में केवल स्पर्श है और आकाश में केवल शब्द है, इससे इनका जब प्रत्यक्ष होगा तब उसी

एक गुण का होगा । जब स्पर्श गृहीत होगा तभी वायु गृहीत होगा-जब शब्द गृहीत होगा तभी आकाश भी । पृथिवी जब अग्नि में ऐसा नहीं होता । पृथिवी का गन्ध न भी प्रत्यक्ष होगा तब भी उसका अपने रूप के द्वारा प्रत्यक्ष होगा । इस लिये वायु और आकाश को गुणों से पृथक् प्रत्यक्षयोग्यता नहीं है । इसी लिये इनका 'अर्थों' से पृथक् परिगणन करना उचित नहीं होता । तर्कभाषा में इनका पदार्थों में परिगणन किया है-परन्तु साक्षात् इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है, इनका अनुमिति ज्ञान ही होता है, स्पर्श से इनका अनुमान किया जाता है ऐसा कहा है (तर्कभाषा पृ. ११२)। इसी से इनका इन्द्रियों का 'अर्थ' के साथ परिगणन उचित नहीं । इसी तरह आकाश को भी (पृ. ११६) शब्द से अनुमेय कहा है । इससे इसको भी 'अर्थ' नहीं कह सकते । तब बाकी रहे काल-दिक्-आत्मा-और मन ये चार वैशेषिक द्रव्य । इनमें आत्मा का प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता उसका अनुमान होता है और शाब्दज्ञान होता है ऐसा भाष्य (पृ. २४) में कहा है । इससे आत्मा को इन्द्रियों का 'अर्थ' नहीं कह सकते । वृद्धों का यही मत है । परन्तु नवीन नैयायिकों ने आत्मा को प्रत्यक्ष माना है-जैसा ऊपर निरूपण कर आये हैं । इससे आत्मा को इन्द्रिय का 'अर्थ' भी माना है । वार्तिककार ने (पृ. ४६८) कहा है कि आत्मा द्रव्य है । परमात्मा (ईश्वर) को भाष्य (पृ. २०१) में आगममात्र से जानने के योग्य प्रत्यक्षानुमानशब्द इन प्रमाणों से अतीत बतलाया है ।

मन को नवीनों ने इन्द्रिय माना है । पर इन्द्रियों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता । मन का सुखादि प्रत्यक्ष से अनुमानही होता है ऐसा सभों का सिद्धान्त है (तर्कभाषा पृ. १२६) । फिर तर्कभाषा में मन को किस तरह 'अर्थ' कहा है सो नहीं समझ पड़ता ।

काल और दिक् के प्रसंग न्यायमंजरी में (पृ. १३६-१४१) सिद्ध किया है कि इनको प्रत्यक्षगम्य और अनुमानगम्य दोनों मान सकते हैं । इससे इनको यदि 'अर्थ' कहें तो कुछ हानि नहीं ।

अब इन 'अर्थों' का प्रत्येक विचार करते हैं । यद्यपि वैशेषिकों की तरह द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय--अभाव—इस तरह सात पदार्थ प्राचीन ग्रन्थों में नहीं कहे हैं तथापि वार्तिककार

के अनुसार और नवीन नैयायिकों के अनुसार पृथिवी जल-तेज-वायु-आकाश-काल-दिक्-आत्मा इतने को वैशेषिक पदार्थ 'द्रव्य' में अन्तर्गत मान सकते हैं । मन को इनके साथ परिगणन करने की साहस नहीं होती । नवीनों के अनुरोध से हम इसको भी इनके साथ कर लेते यदि सूत्रकार ने इसको 'अर्थ' से पृथक् प्रमेय नहीं माना होता । इससे इन आठों का विचार यहां करते हैं मन का विचार छठा प्रमेय रूप से किया जायगा । आत्मा का विचार पहिले ही प्रथम प्रमेय रूप से हो चुका है, गुण-कर्म सामान्य-विशेष-समवाय-अभाव-इन ६ वैशेषिक पदार्थों का 'गुण' के साथ विचार करेंगे ।

प्राचीन न्याय ग्रन्थों में इन द्रव्यादियों का विस्तृतक्रम से विचार नहीं पाया जाता नवीन ग्रन्थों में-वैशेषिकशास्त्र के साथ एकवाक्यता करके जो बनाये गये हैं-उनमें इनका निरूपण किया है । उन्हीं के अनुसार यहां विचार करते हैं ।

कुछ दार्शनिकों का मतहै कि गुण से पृथक् द्रव्य नहीं है-गुण ही द्रव्य है—अर्थात् जब हम किसी चीज़को देखते हैं तब उसके गुणों ही को देखते हैं-उसके गुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पड़ता । इसके उत्तर में वार्तिक (पृ. ७९) और तात्पर्यटीका (पृ. ५९) में कहा है कि जिस तरह हमको वस्तु का ज्ञान होता है-'यह चन्दन है'-उसी तरह यह भी ज्ञान होता है कि 'इस चन्दन की ठंढक, इस चन्दन का रंग' है इस ज्ञान का आकार ठीक वैसा ही है जैसा 'ब्राह्मण की लाठी' इस ज्ञान का । इससे जैसे लाठी से अतिरिक्त पदार्थ ब्राह्मण को मानते हैं उसी तरह ठंढक से अतिरिक्त चन्दन पदार्थ अवश्य मानना पड़ेगा । सब लोग ऐसा ही मानते भी हैं ।

पृथिवी-कठिन और कोमल अवयवों से बनती है, घ्राण इन्द्रिय-जीवों के शरीर-मिट्टी-पत्थर-पहाड़ इत्यादि रूप में पाई जाती है । यद्यपि इसका प्रधान गुण गन्ध ही है तथापि इसमें और भी गुण पाये जाते हैं । जैसे रूप—रस—गन्ध—स्पर्श संख्या—परिमाण—पृथक्त्व—संयोग—विभाग—परत्व—अप-

त्व-गुरुत्व-द्रवत्व संस्कार। यह नित्य और अनित्य है। परमाणुरूप में नित्य, और स्थूलवस्तुरूप में अनित्य। इनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श अनित्य होते हैं और गरमी के संयोग से उत्पन्न होते हैं। पृथिवी में जब गरमी लगती है तब उसका रूप, रस, गन्ध, स्पर्श बदल जाता है। अर्थात् पहिला नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता है।

कई चीजों में यद्यपि गन्धादि गुण हम लोगों को ज्ञात नहीं होते तथापि उनका उनमें होना सिद्ध हो सकता है। जैसे पत्थर में यद्यपि कुछ गन्ध नहीं मालूम होता तथापि जलाने से उसमें गन्ध साफ ज्ञात होता है। इसमें नैयायिकों का सिद्धान्त है कि जब तक जो गुण मालूम नहीं होता तब तक वह अनुद्भूत-अव्यक्त-रहता है, और किसी कारण वश-जैसे गरमी के संयोग से-वह गुण व्यक्त होता है।

परमाणु रूप में पृथिवी नित्य है। जितनी चीजें हम देखते हैं वे सब कई अवयवों के मिलने से बने हैं। न्यायमंजरी (पृ. ५५०-५१) में इतना ही कहा है कि जो चीज़ हम देखते हैं सो अवयवी है-कई अवयवों के मिलने से बना है-सो हम प्रत्यक्ष देखते हैं। और जब तक इस प्रत्यक्ष ज्ञानका कोई बलवान् बाधक नहीं प्राप्त होता तब तक इसको सत्य मानना आवश्यक है। हम स्पष्ट देखते हैं कि खेत से उठाया हुआ ढेला जब फोड़ा जाता है तब उसके कई टुकड़े हो जाते हैं। उसी तरह कई छोटे छोटे टुकड़ों को जब हम मिला देते हैं तब उनके मेल से एक बड़ा ढेला बन जाता है। इसी से सिद्ध होता है कि जितनी चीजें हैं वे सब कई छोटे छोटे टुकड़ों के मिलने से बनी हैं। जहां तक छोटे टुकड़े हम करते जायें-जब तक वह टुकड़ा देख पड़ेगा तब तक उसके और टुकड़े होंगे-सो अवश्य मानना पड़ेगा। जब इतने छोटे छोटे टुकड़े हो जायंगे कि देख नहीं पड़ेंगे तब उनके और टुकड़े नहीं हो सकते—क्योंकि हमने इतना ही देखा है कि जो चीज़ देखी जाती है सो टुकड़ों के मिलने से बनी है। वह आखिरी टुकड़ा, जिसका आगे और टुकड़ा नहीं हो सकता, उसी को 'परमाणु' कहते हैं। यदि कोई ऐसा टुकड़ा करने

का अन्त या विश्राम न माना जाय तो जितनी चीज़ें हैं उन सब के अनन्त टुकड़े हो सकेंगे फिर सब चीज़ें बराबर मानी जायँगी और छोटे बड़े का भेद न रहेगा। (गौतमसूत्र, भाष्य. ४।२।१६-२५ न्याय मंजरी ५०२)।

इन् परमाणुओं के और टुकड़े नहीं हो सकते इससे ये स्थूल नहीं हैं—सूक्ष्म हैं। ऐसे ऐसे दो परमाणुओं के मिलने से द्व्यणुक बनता है-तीन द्व्यणुकों के मिलने से त्रसरेणु, चार त्रसरेणुओं के मिलने से एक चतुरणु-इसी तरह अनन्त परमाणुओं के मिलने से सब चीज़ें बनती हैं।

परमाणु सूक्ष्म है-स्थूल नहीं। तब दो परमाणुओं का संयोग कैसे हो सकता है या इनके मिलने से इनसे मोटा स्थूलद्व्यणुक कैसे होगा क्योंकि एक एक सेर के दो टुकड़ों के मिलने से एक दो सेर का वस्तु बनता है। परन्तु जब परमाणु सूक्ष्म है-उसके अंश या हिस्से नहीं हैं-तो ऐसे दो के मिलने से मोटी चीज कैसे उत्पन्न होगी? इस बात का शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में अच्छी तरह उपपादन किया है। इसका समाधान ठीक-ठीक नहीं मिलता। वार्तिक ४-२-२५ म. और तात्पर्यटीका १-४६० में इतना ही कहा है कि जिनका संयोग होता है उनके अंश या टुकड़े होंगे ऐसा आवश्यक ही है। केवल उनको मूर्त अर्थात् क्रियावान् होना चाहिए अर्थात् वे इधर उधर चलने योग्य हों—इतना ही आवश्यक है। जब दो चीजें मूर्त होंगी तो उनका संयोग अवश्य होगा और उनके संयोग से एक ज्यादे मोटा मूर्त वस्तु उत्पन्न होगा। अस्तु यह तो ठीक है-दो परमाणु जब इधर उधर चलेंगे तो उनका संयोग अवश्य होगा, परन्तु यह संयोग जब दो ढेलों में होता है-तब एक का एक अंश दूसरे के एक अंश से मिलता है, दो आदमी जब मिलते हैं तब एक का दहिना हाथ दूसरे के बाएँ हाथ से मिलता है परन्तु परमाणुओं में ऐसा अंश ही नहीं है-फिर इनका संयोग कैसे होता है? इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता।

परमाणु के संयोग के विषय में नैय्यायिकों की सम्मति यह है कि ईश्वर की चिकीर्षा से परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है। क्रिया

से संयोग होता है। संयोग होने से ही परमाणु अनित्य हो जायगा, यह बात नहीं है। एक जगह सावयव संयोग तथा सावयव होने से सर्वत्र ही वैसा है यह बात नहीं है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम संयोग है। सो परमाणु में भी है। यद्यपि शांकर भाष्य में लिखा है कि एक परमाणु का परमाण्वन्तर के साथ संयोग सर्वात्मना है या एकदेशेन यह विकल्प कर के दोनों पक्ष का खंडन किया है। पर नैय्यायिक ने संयोग प्रादेशिक माना है, और मान कर भी आत्ममनः संयोग भी माना है। आत्मा भी निष्प्रदेश, मन भी निष्प्रदेश लेकिन संयोग होता है। उसी चाल का परमाणु का भी संयोग होने में भी बाधा नहीं है।

जल।

रसन इन्द्रिय जल से बना है। जल के विषय समुद्र, नदी, पाला इत्यादि हैं। रूप, रस, स्पर्श, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, संस्कार इतने जल के गुण हैं। जलपरमाणु नित्य हैं। और सब जलीय विषय अनित्य हैं।

तेज।

चक्षु इन्द्रिय तैजस है। सूर्य, चन्द्र, तारागण, सोना, चांदी, आग, विद्युत् इत्यादि तैजस विषय हैं। रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, संस्कार ये तेज के गुण हैं। तैजस परमाणु नित्य हैं और सब विषय अनित्य हैं। तैजस विषय चार तरह के होते हैं। (१) जिनके रूप और स्पर्श उद्भूत व्यक्त हैं। जैसे धधकती हुई आग। सोना या चांदी का भी रूप स्पर्श व्यक्त है, परन्तु इसमें जो रूप देख पड़ता है सो तेज का नहीं है, क्योंकि तेज का रूप शुक्ल भास्वर माना गया है। इसका स्पर्श जो अनुभूत होता है सो तेज का नहीं है—क्योंकि तेज का स्पर्श गरम माना गया है। इससे सोने चांदी के असली रूप स्पर्श जो तेज के हैं सो व्यक्त नहीं हैं—वे दबे हुए हैं—उन पदार्थों में मिला हुआ जो पृथिवी का अंश है उसका रूप स्पर्श व्यक्त होता है। सोना चांदी तैजस पदार्थ हैं इसमें प्रमाण यही है कि इनमें कितनी

भी आग लगाई जाय तो भी ये पिघल तो जायंगे पर उनमें और कुछ कमी किसी तरह की नहीं होगी। जब पृथिवी आदि के जितने पदार्थ हैं उनमें आग के सम्बन्ध से घटी अवश्य हो जाती है–घटते घटते एकदम जल जाते हैं। ऐसा सोना चांदी इत्यादि में नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है की ये तैजस पदार्थ हैं। (२) जिसमें रूप और स्पर्श व्यक्त नहीं है। जैसे चक्षु इन्द्रिय। आंखों में तेज का रूप (शुक्ल भास्वर) या स्पर्श (गरम) नहीं गृहीत होता इससे इसमें ये व्यक्त नहीं है ऐसा माना गया है। (३) जिसमें रूप व्यक्त नहीं है, स्पर्श व्यक्त है। जैसे गरम किए हुए पानी के अन्तर्गत जो तेज है उसका शुक्ल भास्वर रूप व्यक्त नहीं है किन्तु गरम स्पर्श व्यक्त है। (४) जिसका रूप व्यक्त है–स्पर्श नहीं व्यक्त है। जैसे दूर से आती हुई दीप की रोशनी। इसका गरम स्पर्श नहीं गृहीत होता है–रूप गृहीत होता है।

वायु

त्वक् स्पर्शन–इन्द्रिय वायु का है। विषय है जीवोंका श्वास-प्रश्वास और बाहर की हवा। इसके गुण हैं–स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग। वायु का प्रत्यक्ष नहीं हो तो स्पर्श से इसका अनुमान होता है। स्पर्श वायु का ही विशेष गुण है। इससे जहाँ स्पर्श है वहां वायु अवश्य होगा। वायु का स्पर्श अनुष्णाशीत माना गया है अर्थात् वायु न ठंढा ही है न गरम। जब इसमें जल की कणाएं मिल जाती हैं तब इसमें ठंढक मालूम होती है और जब इसमें तेज की कणा मिलती है तब यह गरम मालूम होता है। वायुपरमाणु नित्य है–और विषय अनित्य है।

आकाश

शब्दगुण का आश्रय आकाश है। इसके गुण–शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग हैं। यह एक ही है--विभु (अर्थात् सर्वत्र वर्तमान)--और नित्य है। इसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। शब्द से इसका अनुमान होता है। शब्द विशेष गुण है यह सभी स्वीकार करते हैं। गुण है तो किसी द्रव्य में होगा। पृथिवी,

जल, तेज, वायु और आत्मा का गुण शब्द नहीं हो सकता क्योंकि इसका ग्रहण श्रोत्र-इन्द्रिय से होता है और पृथिव्यादि के विशेष-गुण श्रोत्रइन्द्रिय से कभी गृहीत नहीं होते। काल, दिक् और मनका भी गुण शब्द नहीं है-क्योंकि ये तीन किसी भी विशेषगुण के आश्रय नहीं होते। तब इनके अतिरिक्त द्रव्य आकाश ही रह गया जिसके गुण होने में कोई बाधक नहीं देख पड़ता। इससे शब्द गुण का आश्रय आकाश ही माना जाता है।

काल

संसार के व्यवहार में अकसर विषयों के प्रसंग ऐसे ज्ञान हुआ करते हैं-'इसके बाद यह हुआ' 'इसके पहिले यह हुआ' 'यह जल्दी हुआ' 'यह देर करके हुआ' 'ये दोनों साथ ही साथ आए' 'यह आदमी जवान है' 'यह बुड्ढा है' इत्यादि। यह व्यवहार जिसके द्वारा होता है वही काल है। काल ही के द्वारा 'आगे' 'पीछे' 'साथ' 'देरी' 'जल्द,' इत्यादि समझा जाता है। इसके गुण हैं-संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग। यद्यपि इसमें रूप नहीं होता तथापि इसका प्रत्यक्ष नैयायिकों ने माना है। प्रत्यक्ष होने में रूप की अपेक्षा नहीं है क्योंकि यदि बिना रूप के प्रत्यक्ष नहीं होता तो रूप ही का प्रत्यक्ष कैसे होता? रूप में तो रूप नहीं है। और फिर परमाणु में यद्यपि रूप है भी तो भी इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे कालका प्रत्यक्ष होता है इसमें सन्देह नहीं। प्रत्यक्ष ग्रहण इसका विशेष रूप से होता है-अर्थात् 'छड़ीवाले आदमी' का जब प्रत्यक्ष होता है तब छड़ी उस आदमी की विशेषण ही रूप से देखी जाती है-वैसे ही जब किसी वस्तु को देखा उसके प्रसंग से यह ज्ञात हुआ कि 'यह चीज जल्द आई' तो इसमें काल का जो भान होता है सो उस चीज के विशेषण रूप से है (न्याय-मंजरी पृ. १३६-३७)।

ऐसा कुछ लोगों का मत है। पर और नैयायिक लोग इसको अनुमेय मानते हैं। तर्कभाषा में ऐसा ही लिखा है (पृ. १२१)। न्यायमंजरी में भी इस मत का उपपादन किया है (पृ. १३७-३८)। ज्योतिषियों ने ग्रहों के चलने ही को काल माना है-जो नैयायिक नहीं स्वीकार करते। चलनादि क्रिया

से अतिरिक्त एक अलग पदार्थ ही काल है, यह नैयायिकों का मत है।

जैसे आकाश सर्वत्र एक ही है वैसे ही काल भी है इसके अनेक भेद मानने में कोई प्रमाण नहीं है। जहां कहीं कोई वस्तु है वह अवश्य किसी काल में है। सब चीजों को काल का सम्बन्ध अवश्य रहता है। इससे काल को विभु-सर्वगामी माना है। इसके अवयव नहीं है, यह एक ही है, इससे नित्य भी है। यद्यपि काल एक ही है तथापि क्रियाओं के द्वारा इसके अवान्तर भेद माने जाते हैं। जैसे एक ही आदमी जब कई तरह का काम, रसोई करना, पढ़ाना, इत्यादि करता है वो उन क्रियाओं के द्वारा वह 'रसोईदार' 'पाठक' इत्यादि भिन्न भिन्न नाम पाता है। इसी तरह यद्यपि काल एक ही है तथापि जब कई क्रियाएँ-रसोई करने के समय बरतन के चढ़ाने से लेकर पका हुआ भात के उतारने तक होती हैं, तब उनमें से एक एक क्रिया का काल से जो सम्बन्ध होता है उन्हीं सम्बन्धों के द्वारा काल के नाना भेद कल्पित होते हैं। इसी तरह हमारी आंखों के सामने जो क्रिया हो रही है जिसका फल अभी तक नहीं हुआ है, उस क्रिया के होने के कारण हम काल को 'वर्तमान' कहते हैं। जो काम पहिले ही हो चुका है अर्थात् जिसका फल हो चुका है, उससे सम्बन्ध होने के कारण हम काल को 'भूत' कहते हैं। और अभी तक जो नहीं हुई और फिर होनेवाली है तो उस क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से काल 'भविष्यत्' कहलाता है। इसी तरह काल के ये तीन मुख्य विभाग होते हैं। नाना क्रियाएँ हुआ करती हैं इसी से काल के नाना अनन्त विभाग 'क्षण' 'कला' 'मिनट' 'घंटा' 'प्रहर' 'दिन' 'रात' 'पक्ष' 'मास' 'ऋतु' 'वर्ष' इत्यादि माने जाते हैं। ये जितने विभाग हैं सो सब क्रियासम्बन्ध द्वारा ही हैं। सूर्य की एक राशि से दूसरी राशि में जाने की जो क्रिया है उसी क्रिया के सम्बन्ध से काल 'मास' कहलाता है-इत्यादि। न्याय-मंजरी में उपसंहार में कहा है—

'सिद्धः कालश्चाक्षुषो लैंगिकोवा तत्रानात्वं सिद्धमौपाधिकं च'। (प १४१)

दिक्

'यह इससे पूरब है' 'यह उत्तर है.' यह इसके आगे बैठा' 'यह पीछे बैठा' इत्यादि व्यवहार जिसके द्वारा होता है उसको 'दिक्' कहते हैं। यह भी काल ही की तरह विभु नित्य है! वैसेही इसको भी कई लोगों ने प्रत्यक्ष माना है, कोई अनुमेय ही मानते हैं। एक होने पर भी इसके अवान्तर विभाग क्रियाओं ही के सम्बन्धद्वारा होते हैं। जैसे सूर्य का उदय होता है, इस उदय रूपी क्रिया के सम्बन्ध से दिक् 'पूर्व' कहलाती है। सूर्य ही के अस्त होने की क्रिया के सम्बन्ध से दिक् 'पश्चिम' कहलाती है। काल की तरह दिक् के भी गुण संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग हैं।

आकाश और दिक् में बहुत भेद है। आकाश केवल शब्द का कारण है-दिक् सब चीजों का। आकाश स्थूल भौतिक द्रव्य है। शब्द के द्वारा इसका साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, दिक् का साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता। विशेषण रूप ही से इसका प्रत्यक्ष हो सकता है- 'आगे' 'पीछे' 'पूर्व' 'पश्चिम' इत्यादि व्यवहारही के लिये माना जाता है। आकाश प्रत्यक्ष शब्द का कारण है।

आत्मा

इसका विचार प्रथम प्रमेयरूप से हो चुका है (पृ० ७५-८०)

मन।

इसका विचार आगे चलकर छठे प्रमेयरूप से किया जायगा।

गुण

वार्तिककारने जिनका 'गुण' कहकर 'अर्थ' में अन्तर्गत किया है अब उनका विचार करते हैं। उनमें से रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, का विचार हो गया है। इसको नैयायिकों ने वैशेषिकों की तरह अन्त्य व्यवच्छेदक नहीं माना है। वाचस्पति मिश्रने तात्पर्यटीका (पृ० १५३) में कहा है कि विशेष पद से अन्त्यव्यवच्छेद से मतलब नहीं क्योंकि अन्त्यव्यवच्छेदकों का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं हो सकता

इससे यहां 'विशेष' पद से 'रेखोपरेख' विवक्षित है। अर्थात् व्यवच्छेदमात्र।

कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, ये वैशेषिकों ने द्रव्यगुण से भिन्न पदार्थ ही माना है। इससे इन्हीं का विचार पहिले करते हैं। द्रव्य जिसका आश्रय है-जो द्रव्य में आश्रित है-वही गुण है-ऐसा गुण का जब लक्षण है तब इसको 'गुण' मानना ही ठीक है; क्योंकि द्रव्य से अलग कभी कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव नहीं रह सकते।

कर्म

'कर्म' पदका अर्थ यहां काम नहीं है, यहां चलने से मतलब है। दो अलग अलग चीज़ें जिससे संयुक्त हों या दो संयुक्त चीज़ें जिससे अलग अलग हो जायँ उस व्यापार को 'कर्म' कहते हैं। ऐसे 'कर्म' पांच प्रकार के होते हैं-(१) उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) (२) अवक्षेपण नीचे फेंकना (३) आकुञ्चन-अपनी ओर खींचना (४) प्रसारण-अपनी ओर से दूसरी ओर हटाना (५) गमन-अर्थात् चलना, बहना, गिरना, उड़ना इत्यादि।

सामान्य

अनेक चीजों का एक ज्ञान जिसके द्वारा होता है उसी को 'सामान्य' कहते हैं। इसी को 'जाति' भी कहते हैं। (सूत्र-२२ ६६) द्रव्य, गुण, कर्म इन्हीं तीन के जाति होती हैं। जाति नित्य है। यह दो तरह की है, पर और अपर। जिसमें अधिक व्यक्तियां-एक एक चीज़-अन्तर्गत हों उसको 'पर' या 'बड़ी' कहते हैं। और जिसमें थोड़ी व्यक्तियां हों उसको 'अपर' या 'छोटी' कहते हैं जैसे 'जानवर' जाति में 'घोड़ा' जाति से अधिक व्यक्तियां हैं;इससे घोड़ा की अपेक्षा 'जानवर' जाति 'पर' हुई और 'जानवर' जाति की अपेक्षा 'घोड़ी' जाति 'अपर' हुई। भाष्यकार ने इन दो तरहों को 'सामान्य' और 'सामान्यविशेष' जाति कहा है। जिसके द्वारा केवल अनेक चीजों का एक ज्ञान होता है-और जिसके द्वारा कभी कोई चीजों का अलग अलग ज्ञान नहीं होता है वही शुद्ध 'सामान्य' वही 'जाति' है। जैसे 'चीज'-यह जाति ऐसी है कि

इससे जितनी चीज हम लोग जान सकते हैं सभी अन्तर्गत हैं इससे 'चीज' कहने से हमको कुल चीजों का एक ज्ञान उत्पन्न होता है। कोई चीज इससे अलग नहीं जो कि इस ज्ञान से बाहर हो, इससे यह 'शुद्ध जाति' हुई। परन्तु 'जानवर' जाति ऐसी है कि जितने जानवर हैं-घोड़ा हाथी इत्यादि--उन सबका ज्ञान एक इसके ही द्वारा उत्पन्न होता है परन्तु बहुत सी चीजें बेजान की हैं जो कि इस ज्ञान से अलग की जाती हैं। इससे यह 'जानवर' जाति जाति भी है और विशेष भी; अर्थात् अलग करने-वाली भी।

विशेष

वैशेषिकों के मत से 'विशेष' ऐसे ही गुण को कहते हैं जिस-के द्वारा केवल एक चीज का दूसरी चीज से भेद हो सके। ऐसा मांमूली गुण कोई नहीं है। क्योंकि 'लाल' 'पीला' इत्यादि जितने गुण हैं वे लाल चीजों को और रंगवाली चीजों से अलग तो करते हैं पर उसके लिये ही कुछ लाल चीजोंको इकट्ठा भी करते हैं। इसी से वैशेषिकों ने केवल नित्यपदार्थ-जैसे परमाणु जितने हैं उन्हींके उन गुणों को 'विशेष' कहा है जिनसे एक दूसरे से अलग जाना जाता है। पर प्राचीन नैयायिकों ने ऐसा नहीं माना है। भाष्य में अपर-छोटी छोटी-जाति को 'सामान्य विशेष' कहा है। इस से स्पष्ट होता है कि जिसके द्वारा चीजों में भेद जाना जाय उसी को इन्होंने 'विशेष' माना है। वाचस्पति मिश्र ने भी तात्पर्य टीका (पृ० १५३) में स्पष्ट कहा है कि वैशेषिकों के 'विशेष' से यह मतलब नहीं है क्योंकि वह विशेष इन्द्रियों से नहीं गृहीत होता है। और यहां जितने गुण वार्तिककार ने गिनाए हैं वे इन्द्रियों के 'अर्थ' हैं। इससे 'विशेष' पद से यहां उन्हीं गुणों से मतलब है जिनके द्वारा एक चीज दूसरी से अलग समझी जाय।

समवाय

जैसे और गुण पदार्थों में आश्रित रहते हैं वैसा समवाय नहीं है। समवाय एक प्रकार का धर्म है--और इसी समवाय को वार्तिककार ने 'गुण' कहा है। (पृ० ७५)। नित्य सम्बन्ध को 'समवाय'

कहते हैं। जाति से अलग व्यक्ति कभी नहीं रहती, गुणी से अलग गुण नहीं रहता, लाल चीज ही में लाल रंग रहता है। यही जो नित्य सम्बन्ध है उसी को 'समवाय' कहते हैं। जिस जगह गुणी रहता है उसी जगह गुण भी रहता है, कभी दूसरी जगह नहीं रहता। यही इनका नित्य सम्बन्ध है, इसीको समवाय कहते हैं। यह सर्वथा प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि गुणी और गुण में नित्य सम्बन्ध है इससे समवाय को प्रत्यक्ष मानते हैं (न्या० मंजरी पृ० ३१२)। संयोग सम्बन्ध उन्हीं में होता है जो पहले अलग थे और कभी कभी मिल जाते हैं और फिर अलग हो जाते हैं। जैसे घोड़े से सवार अलग रहता है। जब वह उसपर बैठता है तब उन दोनों का संयोग होता है और फिर जब वह उतर पड़ता है तब वह संयोग नष्ट हो जाता है। इसी से संयोग को 'अनित्य सम्बन्ध' कहा है।

अभाव।

जहां पर जिस चीज़ का होना और देखा जाना सम्भव हो वहां यदि वह न पाई जाय तो वहां उस चीज़ का 'अभाव' है, ऐसा कहा जाता है। कुछ लोगों का मत है कि अभाव कोई वस्तु नहीं है; किसी चीज का कहीं पर न होना किसी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, इसी से अभाव कोई वस्तु नहीं है। इस मत का उपपादन न्यायमंजरी में (५-५४-५८) बहुत अच्छी तरह किया है। नैयायिकों का ऐसा मत नहीं है सो सूत्र २।२।७-१२ से स्पष्ट है। इनका मत है कि अभाव एक वस्तु अवश्य है। अभी हमने एक चीज़ देखी, फिर थोड़ी देर के बाद उसी को नहीं देखते, इसका क्या कारण है? उसके देखने के जितने कारण इन्द्रियादि हमारे थे वे सब हैं ही फिर वह चीज़ क्यों नहीं देखी जाती? जैसे दर्शनादि ज्ञान से किसी चीज़ का भाव गृहीत होता है वैसेही उसके अदर्शनादि से उसका अभाव गृहीत होता है। फिर यदि वस्तुओं का अभाव नहीं माना जाय तो सब वस्तु नित्य हो जायंगे। एक घड़ा हमारे सामने रक्खा है उस पर हमने एक लाठी मार दी उससे वड़ा नष्ट हो गया, यह अवश्य माना जायगा। घड़े के उसी नष्ट हो जानेही को हम अभाव कहते हैं। आप कहते हैं कि घट का नाश हो गया; मैं कहता हूं 'घट का अभाव हो गया' केवल नाम

का झगड़ा रह गया इत्यादि। न्यायमंजरी (५-४९-५३) में बहुत विशद रूप से लिखा है।

अभाव एक वस्तु है। इसके ज्ञान के विषय में नैयायिकों का मत है कि इसका प्रत्यक्ष होता है। इसी से वार्तिककार ने इसका अर्थ माना है। सम्बद्धविशेषणता सम्बन्ध से इसका प्रत्यक्ष होता है अर्थात् जिस जगह में किसी वस्तु का अभाव है उस जगह का वह अभाव विशेषण हुआ। इससे जब उस जगह का प्रत्यक्ष होता है तब उसका विशेषण जो है अभाव, उसका भी प्रत्यक्ष होता है। न्यायमंजरी में कहा है (५-६३)—

तस्मादभावाख्यमिदम् प्रमेयं तस्येन्द्रियेण ग्रहणं न विरुद्धम्।

सूत्र २।२।१२ में और भाष्य वार्तिक में अभाव को दो तरह का बतलाया है। (१) 'प्रागभाव' जो आगे उत्पन्न होनेवाला है, अभी उत्पन्न नहीं हुआ। (२) ध्वंस जिसमें उत्पन्न हो कर नष्ट हो गया। न्याय मंजरी में ऐसे दो प्रकार माने हैं (५-६३)। वाचस्पति मिश्र (पृ. ३०७) ने चार तरह का कहा है।

इनके मत से अभाव पहले दो प्रकार का है (१) तादात्म्याभाव या इतरेतराभाव या अन्योन्याभाव जैसे घोड़े में हाथी का अभाव और हाथी में घोड़े का अभाव। (२) संसर्गाभाव अर्थात् किसी चीज़ का किसी जगह पर न होना। और यह संसर्गाभाव तीन प्रकार का है। (१) प्रागभाव—कोई वस्तु जब कहीं आनेवाला है। जब मैं काशी जानेवाला हूं तब वहां पर मेरा प्रागभाव है। (२) ध्वंसाभाव—जहां पर जो चीज़ उत्पन्न होकर फिर नष्ट हो गया। जैसे एक घड़ा अगर फूट गया तो उसका ध्वंसाभाव हुआ। (३) अत्यन्ताभाव, जहां पर कोई वस्तु न तो कभी आया, न अभी है और न कभी आनेवाला है उसका अत्यन्ताभाव हुआ। जैसे 'आकाश कुसुम'। आकाश कुसुम न कभी हुआ न कभी होनेवाला है। इस तरह अत्यन्ताभाव, प्रागभाव, ध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव ये चार प्रकार के अभाव हुए। येही चार विभाग नवीन नैयायिकों ने माने हैं।

कुछ लोग छः प्रकार का अभाव मानते हैं। ऊपर कहे हुए चार और उनके अतिरिक्त दो और। अपेक्षाभाव और सामर्थ्याभाव·

अपेक्षाभाव उस वस्तु का होता है जो एक जगह से दूसरी जगह चला गया हो। जैसे मैं जब प्रयाग से काशी गया तो प्रयाग में मेरा अभाव 'अपेक्षाभाव' हुआ। किसी आदमी को कोई सामर्थ्य है फिर वह नष्ट हो गया तो उस आदमी में उस सामर्थ्य का अभाव 'सामर्थ्याभाव' कहा जाता है।

वार्तिककार के मतानुसार गुणोंमें अब बाकी रहे—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह और वेग। इनके अतिरिक्त नवीन नैयायिकों ने वैशेपिकों के अनुसार गुरुत्व, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इतने और गुण माने हैं।

इनमें बुद्धि को ज्ञान ही का नामान्तर माना है (सूत्र-१-१-७५) इसको पांचवां प्रमेय माना है। इससे आगे चल कर इसका विचार होगा। यहां इतनाही कहना आवश्यक है कि यह आत्मा का गुण है। जैसा सूत्र १-१-१० भाष्य पृ० १६ और वार्तिक (पृ० ७०, पंक्ति २१-२२) में स्पष्ट लिखा है। बुद्धिका मानस प्रत्यक्ष होता है (तर्कभाषा पृ० १४०)।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न भी आत्मा ही के गुण हैं (सूत्र-१-१-१०, और वार्तिक पृ० ७०, पंक्ति २१-२२)। दुःख को ग्यारहवां प्रमेय माना है। उसका और उसीके साथ सुखका विचार आगे चल कर होगा। इनका मानस प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ऐसा न्याय मंजरी (पृ० ४३४, पंक्ति १९—२०) में कहा है। भाष्यकार ने भी (पृ० २७) ' सुखादि ' का प्रत्यक्ष माना है। वाचस्पति मिश्र ने 'सुखादि' से सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न लिया है। जब किसी वस्तु से सुख होता है तब फिर फिर वह चीज हमको मिले, ऐसा मन में आता है; इसी को इच्छा कहते हैं। जिस वस्तु से दुःख हुआ और उसके विषय में 'वह हमसे दूर रहे' ऐसा मन में होता है, इसीको द्वेष कहते हैं। फिर सुख देनेवाली चीज के पाने के लिये या दुःख देनेवाली चीज को दूर करने के लिये जो काम आदमी करेगा उस काम के करने के लिये जो आत्मा का उत्साह होता है उसीको प्रयत्न कहते हैं।

याग, दान, होम, परोपकार इत्यादि अच्छे कामों से आत्मा में

जो गुण उत्पन्न होता है उस को 'धर्म' कहते हैं और अनुचित कर्म करने से आत्मा में जो गुण उत्पन्न होता है उस को 'अधर्म' (न्यायमंजरी पृ० २७१)। इनका भी मानस प्रत्यक्ष योगियों को होता है। हम लोग केवल सुखप्राप्ति से पूर्व जन्म के धर्म का और दुःख से पूर्व जन्म के अधर्म का अनुमान ही कर सकते हैं और शास्त्र प्रमाण से जान सकते हैं (तर्क भाषा १८०)।

संस्कार तीन प्रकार का है-भावना, वेग, स्थितिस्थापक। भावना उस संस्कार का नाम है जो आत्मा में ज्ञान से उत्पन्न होता है और जिससे आगे चल कर उसको उसी ज्ञान से जानी हुई चीज का स्मरण होता है। आज जिस चीज को देखा उसका कल स्मरण होता है, इसका कारण यह है कि उस ज्ञान से आत्मा में एक संस्कार गुणविशेष या शक्तिविशेष उत्पन्न हुआ जिसके द्वारा उसको उस चीज का स्मरण होता है।

दूसरा संस्कार है वेग या तेजी जिससे वस्तु में क्रिया-चलन पैदा होती है। वार्तिककार ने इसी का नाम गुणों में कहा है। यह पृथिवी, जल, वायु, तेज और मन में होता है।

तीसरा संस्कार है स्थिति-स्थापक जिसके द्वारा रबड़ खींचा जाने के बाद फिर अपनी पुरानी जगह पर आ जाता है, या पेड़ की शाख नीचे खींचे जाने पर फिर लौट कर अपनी पुरानी जगह पर चली जाती है।

अब बाकी रहे संख्या, परिमाण इत्यादि। इनका विशेष रूपसे विचार वैशेषिक प्रकरण में होगा। यहां थोड़ा सा विचार करते हैं।

संख्या

वह गुण है जिससे 'एक' 'दो' 'तीन' इत्यादि व्यवहार होता है। एक से ले कर परार्ध तक संख्या होती है। एकत्व नित्य चीज़ों में नित्य है-अनित्य चीज़ों में अनित्य। एक से अधिक जितनी संख्याएं हैं वे सब अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती हैं। कई चीज़ें जब एक जगह पाई जाती हैं तब उनमें से एक एक के विषय में ऐसा ज्ञान होता है कि—'यह एक चीज़ है' फिर 'यह एक है'—इसी तरह जो ज्ञान होता है उसी को 'अपेक्षाबुद्धि' कहते हैं।

इसी से उन चीज़ों में द्वित्व, त्रित्वादि संख्याएं उत्पन्न होती हैं। दो चीज़ें रहें तो द्वित्व संख्या, तीन रहें तो त्रित्व इत्यादि।

परिमाण

वह गुण है जिस के द्वारा वस्तु नापा जाता है। यह चार तरह का होता है—अणु (छोटा) महत् (बड़ा) दीर्घ (लम्बा) ह्रस्व (नाटा)।

पृथक्त्व

वह गुण है जिस के द्वारा 'यह चीज़ उस चीज़ से अलग है' ऐसा ज्ञान होता है।

संयोग

वह गुण है जिस के द्वारा 'यह वस्तु उस से संयुक्त हो गया अथवा मिल गया है' ऐसा ज्ञान होता है। यह तीन तरह का होता है—(१) दो वस्तुओं में किसी एक की क्रिया से उत्पन्न—जैसे जब दौड़कर आदमी कुरसी पर बैठ जाता है—कुरसी स्थिर है-आदमी की चाल से उस का यह संयोग आदमी के साथ हुआ। (२) दोनों वस्तुओं की क्रिया से उत्पन्न—जैसे दो तरफ से दो भेडे दौड़ कर जब टक्कर लड़ते हैं तब इनका संयोग दोनों के चलने से उत्पन्न हुआ। (३) संयोग से उत्पन्न—जैसे जब आदमी का हाथ दीवार में लगा तब हाथ के संयोग द्वारा आदमी के शरीर का संयोग उस दीवार के साथ हुआ।

विभाग

वह गुण है जिस के द्वारा 'यह वस्तु उस से अलग हो गया है' ऐसा ज्ञान होता है। यह भी संयोग की तरह तीन प्रकार का होता है।

परत्व

वह गुण है जिस के द्वारा 'यह चीज़ उस से दूर है' ऐसा ज्ञान होता है। यह काल और दिक् दोनों के विषय में होता है। जैसे जब एक चीज़ दूसरी से अधिक फ़ासिले पर—दो गज,

चार गज पर—है तब वह उससे दूर कहलाती है। और जब वह उससे दो चार दस महीने पहिले हुई तो भी 'दूर' कहलाती है। इसी तरह अपरत्व वह गुण है जिसके द्वारा 'वह उससे नज़दीक है' ऐसा ज्ञान होता है।

गुरुत्व।

भारीपन—वह गुण है जिसके द्वारा चीज़ गिरती है।

स्नेह।

चिकनाहट को कहते हैं।

द्रवत्व

वह गुण है जिस के द्वारा जल जैसे पदार्थ बह चलते हैं।

प्रमेय (५)–बुद्धि

नैयायिकों के मत से बुद्धि और ज्ञान एक ही चीज है। (सू० १-१-१५) सांख्यों की तरह ये ज्ञान को बुद्धि की वृत्ति नहीं मानते। यद्यपि यह स्वयं प्रमेय-ज्ञान का विषय है तथापि इसको और वस्तुओं का प्रकाशक या ज्ञान करानेवाली अवश्य मानना पड़ता है। (भाष्य० पृ० २७)। बुद्धि एक गुण है। अर्थ, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन्हीं चारों में से किसी एक का गुण हो सकता है। इनमें शरीर, इन्द्रिय और मन अपनी अपनी क्रियाओं में परतंत्र पाए जाते हैं—अर्थात् जब तक आत्मा का प्रयत्न नहीं होगा तब तक शरीर, इन्द्रिय या मन का कोई व्यापार नहीं होता। इससे इन तीनों को चेतन नहीं मान सकते। इन्द्रिय और अर्थ (द्रव्यादि) के नष्ट होने पर भी ज्ञान होता है इससे इन दोनों में से किसीका गुण ज्ञान (बुद्धि) नहीं हो सकता (सू० ३-२-१८)। शरीर का गुण नहीं हो सकता इसका व्युत्पादन सूत्र ३-२-४८-५८ में किया है। इससे आत्मा ही का गुण बुद्धि हो सकती है, ऐसा सिद्धांत सूत्र ३-२-४१ में सिद्ध किया है।

यह बुद्धि नित्य है या अनित्य? सांख्यों के मत से नित्य है। नैयायिकों ने इसे अनित्य माना है। ऐसा सिद्धान्त सूत्र ३-२-१-१७ में किया है। यद्यपि नित्य विभु आत्मा का यह गुण है तथापि अनित्य है। जैसे विभु शब्द नित्य, आकाश का गुण हो कर भी अनित्य होता है। जिस तरह दूसरे शब्द को उत्पन्न कर पहिला शब्द नष्ट हो जाता है उसी तरह दूसरे ज्ञान को उत्पन्न कर के पहिला ज्ञान नष्ट हो जाता है।

बुद्धि अनित्य ही है ऐसा सिद्धान्त प्राचीनों का है। परन्तु नवीनों ने ईश्वर के ज्ञान को नित्य माना है (तर्कभाषा पृ०१३९-४०)।

बुद्धि या ज्ञान दो प्रकार का है। अनुभव और स्मरण। अनुभव दो प्रकार का है-यथार्थ (सत्य) और अयथार्थ (मिथ्या, गलत)। जैसा चीज का असल स्वरूप है वैसा ही जिस ज्ञान में भासित होता है वह यथार्थ ज्ञान है जैसे घोड़े को देख कर 'यह घोड़ा है' ऐसा ज्ञान होता है। यही अनुभव ज्ञान चार प्रकार का है, प्रत्यक्ष,

अनुमान, उपमान और शब्द ज्ञान, जैसा प्रमाण प्रकरण में निरूपण किया गया है । जैसा किसी चीज का असल स्वरूप है वैसा ज्ञान में नहीं भासित होता है-उस ज्ञान को मिथ्या या अयथार्थ कहते हैं। जैसे जब घोड़े को देख कर-'यह ऊंट है' ऐसा ज्ञान होता है । मिथ्या ज्ञान तीन प्रकार का है संशय, तर्क और विपर्यय । संशय और तर्क का निरूपण आगे होगा । विपर्यय ही असल मिथ्या ज्ञान है । (तर्क भाषा १४६-५०)

जिस वस्तु का एक दफे प्रत्यक्षादि ज्ञान हुआ वही चीज़ जब फिर किसी समय में मन में भासित होती है जिस समय उस चीज़ के प्रत्यक्षादि ज्ञान की सामग्री नहीं उपस्थित है, तब उस ज्ञान को स्मरण कहते हैं । स्मरण के २७ कारण सूत्र ३-२-४३ में गिनाए हैं । (१) प्रणिधान-जब किसी चीज़ को हम देखते हैं तब यदि हमारे मन में यह इच्छा होती है कि इस चीज़ का स्मरण मुझ को फिर फिर हुआ करे इस इच्छा से हम उस चीज़ को खूब ध्यान दे कर देखते हैं, इसी ध्यान देने को ' प्रणिधान ' कहते हैं । जितनी ध्यान देकर जो चीज़ देखी जायगी उतनी ही अच्छी तरह स्मरण होगा । (२) निबन्ध व कई चीज़ें साथ साथ देखी जाती हैं-और इन में किसी तरह का घनिष्ट सम्बन्ध मन में जम जाता है तब इन में से एक के देखने से दूसरे का स्मरण होता है-जैसे दो आदमियों को यदि हर दम साथ देखें तो जब कभी एक सामने आता है तब दूसरे का भी स्मरण होता है । (३) अभ्यास-जब किसी चीज को मैं बार बार देखता हूं तब उससे मेरे आत्मा में एक संस्कार बन जाता है-जिस के द्वारा उस चीज का मुझे स्मरण हुआ करता है-जैसे बार बार बोलने से शब्दों का स्मरण होता है । (४) लिङ्ग—जब कोई चीज दूसरी चीज का चिह्न होता है-तब उस को देख कर उस चीज़ का स्मरण होता है । जैसे धूआं देखने से आग का स्मरण होता है । निबन्ध से इस का इतनाही भेद है कि लिंग और लिंगी का सम्बन्ध सदा ही बना रहता है-एक दूसरे से अलग कदापि नहीं देखा जाता । (५) लक्षण-जैसे किसी राजा के निशान को देख कर राजा का स्मरण होता है । स्वाभाविक सम्बन्धवाला ' लिंग ' कहलाता है और सांकेतिक सम्बन्धवाले को 'लक्षण' कहते हैं ।

(६)सादृश्य-जैसे किसी आदमी की तसवीर को देखकर हमको उस आदमी का स्मरण होता है। (७) परिग्रह—जैसे नौकर को देखकर मालिक का या मालिक को देखकर नौकर का स्मरण होता है। (८) आश्रय—किसी आदमी को देखकर उसके घर का स्मरण होता है। (९) आश्रित—घर देखकर उस घरके मालिक का स्मरण होता है। (१०) सम्बन्ध—रिश्तेदारी-जैसे पिताको देखकर पुत्र का स्मरण होता है। (११) आनन्तर्य—जैसे किसी अभ्यस्त काम के करने के समय एक अंश के किये जाने पर उसके आगे के अंश का स्मरण होता है। (१२) वियोग—जैसे मित्र से अलग होने पर उस का स्मरण होता है। (१३) एक कार्य—एक विद्यार्थी को देखकर दूसरे विद्यार्थी का स्मरण होता है-एक मिट्टी खोदने वाले को देखकर दूसरे मिट्टी खोदनेवाले का स्मरण होता है। (१४) विरोध—दो आदमी के बीच जब बहुत झगड़ा हुआ करता है तब उनमें से एक आदमी के देखने से उसके दुश्मन का स्मरण होता है। (१५) अतिशय—जिस चीज में कोई बात बहुतायत से पाई जाती है तो उस चीज का स्मरण अकसर हुआ करता है। (१६) प्राप्ति—जिस चीज के पाने की या उसके अलग करने की इच्छा बड़ी जोर से होती है उस चीज का स्मरण अकसर हुआ करता है। (१७) व्यवधान-तलवार के मयान को देखकर उस से ढपी हुई तलवार का, कैद खाने को देखकर भीतर के कैदियों का स्मरण होता है। (१८) सुख से सुख के कारण और (१९) दुःख से दुःख के कारण का स्मरण होता है। (२०) इच्छा से-जिस चीज की इच्छा है उस चीज का स्मरण होता है। (२१) द्वेष से—जिस चीज से द्वेष होता है उस चीज का स्मरण होता है। (२२) भय से-जिस चीज से आदमी डरता है उसका स्मरण उसको अकसर होता है। (२३) अर्थित्व—जो आदमी जिस चीज को चाहता है उस चीज को देखने से उस आदमी का स्मरण होता है। (२४) क्रिया-रथ को देखकर रथ के चलाने वाले का स्मरण होता है। (२५) राग-जिस स्त्री से प्रीति होती है उस स्त्री का स्मरण अकसर होता है। (२६) धर्म—जो बड़ा धर्मात्मा है उसको अपने पूर्वजन्म के

दृष्टान्तों का स्मरण होता है। (२७) अधर्म—जब कोई अधर्म करता है तो उसको इस बात का स्मरण होता है कि यह अधर्म किसी समय मेरे दुःख का कारण हुआ था।

इतने ही कारण स्मृति के नहीं है। यह केवल दृष्टान्तरूप में कहा है ऐसा भाष्य में (पृ. १७६) में लिखा है। आशय यह है जब किसी कारण से किसी देखी हुई चीज का संस्कार मन मे दृढ़ जम जाता है तब उस संस्कार के द्वारा उस चीज का स्मरण होता है।

स्मरण भी दो प्रकार का है-सत्य और मिथ्या। मिथ्या स्मरण स्वप्न में होता है क्योंकि स्वप्न में किसी संस्कार के द्वारा स्मरण नहीं होता है निद्रा रूप दोष से ही स्मरणरूपी ज्ञान होता है। जागे में जो स्मरण होता है सो सत्य मिथ्या दोनों प्रकार का होता है तर्कभाषा पृ. १५०)

प्रमेय (६) मन

मन इन्द्रिय है ऐसा नैयायिकों का मत है। सूत्र में इसके प्रसंगमें कुछ नहीं लिखा है। भाष्यकार ने कहा है कि और शास्त्रों में मनको इन्द्रिय माना है इस बात का निषेध गौतमने नहीं किया इससे मालूम होता है कि गौतम ने इस बातको स्वीकार किया। भाष्यकार की कई पंक्तियों से मालूम होता है कि उनके मन में भी इस बात का सन्देहही रहा। जैसा ऊपर इन्द्रिय प्रकरण में कह आये हैं। परंतु वार्तिककार से आरम्भ करके नवीन नैयायिकों तक सभों ने मनको इन्द्रिय माना है।

स्मरण-अनुमान-शाब्दज्ञान-संशय--प्रतिभा—स्वप्नज्ञान-सुख-दुःख का ज्ञान-इतने प्रकार के ज्ञान जो होते हैं सो घ्राण रसन त्वक् चक्षु कर्ण इन पांच इन्द्रियों के द्वारा नहीं होते। इससे इन ज्ञानों का करण कुछ औरही होना चाहिये। इसी करण को छठां इन्द्रिय 'मन' कहा है। यह एक युक्ति मनके होने में है। दूसरी युक्ति सूत्र १. १. १६. में कहा है। हम देखते हैं कि जब एक आम का फल हमारे सामने आता है तब यद्यपि वह फल मेरे कई इन्द्रियों से आंख त्वक् घ्राण से संयुक्त है तथापि

एककाल में हमको उसके रूप स्पर्श और गन्ध का ज्ञान नहीं होता एक बार में क्या उसके रूपहीका या स्पर्शही का या गन्धही का ज्ञान होता है। इससे यह मालूम होता है कि इन्द्रियों के संयोग रहते हुये भी कोई और बात आवश्यक है जिसके बिना ज्ञान नहीं उत्पन्न होता और यह बात केवल किसी और दूसरे तरह के करण-के व्यापार रूपकी हो सकती है। इससे सिद्ध हुआ कि उक्त ज्ञानों में उपयोगी इन्द्रियों के अतिरिक्त एक और करण की अपेक्षा होती है। यही करण मन है।

एक शरीर में एकही मन है। यदि अनेक मन होता तो एक क्षण में अनेक ज्ञान होसकते। (सूत्र० ३. २. ५८)। एक काल में, कई ज्ञान नहीं होते जब कभी ऐसा मालूम भी पड़ता तब यही होता है कि वे ज्ञान इतना शीघ्र होते हैं कि उनका क्रम मालूम नहीं पड़ता यथार्थ में एक दूसरे के बादही उत्पन्न होते हैं।

एक क्षण में अनेक ज्ञान नहीं उत्पन्न होते इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक क्षणमें मन का संयोग एकही वस्तु से होसकता है। यदि मन बड़ा होता तो ऐसा नहीं होता। बड़ी चीज़ का संयोग एक कालमें कई चीज़ों से होसकता है जैसे बड़ी चौकी पर कई आदमी एक काल में बैठ सकते हैं। इसी कारणसे नैयायिकों ने मनको बहुत छोटा-अणु-माना है (सू. ३. २. २)। यद्यपि यह मूर्त द्रव्य है तथापि इसके अणु होने के कारण इसके अवयव नहीं हैं। इन्द्रियों से इसका संयोग होता है इसी संयोग के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। अनेक इन्द्रियों से इसका संयोग होता रहता है इससे इसको वेगवान् माना है। मन अचेतन है। चेतन केवल आत्मा है फिर एकही शरीर में दो चेतन पदार्थों का मानना व्यर्थ है। (न्या. म. पृ. ४७८) मनही के द्वारा सुख दुःख का भोग होता है और मनही के द्वारा इन्द्रियों का व्यापार होता है और यही बन्धन के कारण हैं इससे ज्ञानियों ने इसको हेय समझा है। (पृ. ४७७)

प्रमेय (७)—प्रवृत्ति।

इन्द्रिय मन और शरीर के व्यापार को 'प्रवृत्ति' कहते हैं।

आत्मा नित्य है इसका मरण नहीं होसकता इसीसे 'प्रेत्यभाव' सिद्ध होता है (सू. ४. २. १०) । आत्मा नित्य है उसकी उत्पत्ति या नाश नहीं होसकता पर शरीरादि की उत्पत्ति और नाश प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। इससे आत्मा के शरीरादि सम्बन्धही से जन्म और शरीरादि बदलनेही को मरण कहते हैं। जब तक आत्मा का अपवर्ग नहीं होता तब तक धर्माधर्म प्रयुक्त कर्म फलों के भोगने के लिये आत्मा को पुनः पुनः शरीरादि सम्बन्ध होताही रहता है। इसी वारंवार शरीरादि सम्बन्ध को 'पुनर्जन्म' 'प्रेत्यभाव' कहते हैं।

शरीर इन्द्रियादि की उत्पत्ति किस तरह होती है सो 'शरीर' प्रकरण में निरूपित है।

प्रमेय (१०) फल।

प्रवृत्ति और दोष जो पहिले कह आये हैं-उन्हींसे जो अर्थ उत्पन्न होता है-उसीको 'फल' कहते हैं (सू. १. १. २०) । जितने व्यापार होते हैं वे क्या धर्म या अधर्म रूपसे होते हैं-और धर्म अधर्महीसे आत्माके शरीर इन्द्रिय आदि बनते हैं और उनके द्वारा उनके सुख दुःख होते हैं। सुख दुःखही के भोगको मुख्य फल माना है (भाष्य० पृ० २६, न्यायमंजरी पृ० ५०५) और शरीर इन्द्रियादि भी सुख दुःख के द्वारा होते हैं इससे उनको और फल माना है। इसी तरह सुख दुःख भोगने को जन्म ग्रहण करना पड़ता है-मेरे सब व्यापारोंका फल यही है इस बातको विचार करलेसे मनुष्यको संसारसे विरक्ति होती है-इससे इसका विचार अपवर्गका साधन होता है।

कई कर्म तो ऐसे हैं कि उनका फल उसी क्षण हो जाताहै-जैसे मिठाई खाया और उसी समय मीठा स्वादका सुख मिल गया-परंतु कई कर्म ऐसे हैं जिनका फल उसी कालमें नहीं मिल जाता। जैसे यज्ञादि-तीर्थ यात्रा-इत्यादि-औरभी कितने तरहके धर्म या अधर्म ऐसे गिने जाते हैं जिनका फल अभी कुछ नहीं मालूम होता इनके प्रसंग यह सिद्धान्त है कि इन कर्मोंके द्वारा आत्मा में धर्म अधर्म दो तरहके संस्कार उत्पन्न होते हैं-और ये संस्कार आत्मा

में बराबर वर्तमान रह कर कालान्तरमें-जन्मान्तरमें अपना अपना फल उत्पन्न करते हैं। (सू. भाष्य-४१-४७)

प्रमेय (११) दुःख।

ग्यारहवां प्रमेय दुःख कहा है। पीड़ा या सन्तापहीको दुःख कहते हैं (सू. १. १. २१) दुःख २१ प्रकारका है-(१) शरीरका-वा इन्द्रियोंका-इनके द्वारा भोग्य पदार्थके प्राप्त होनेसे छ प्रकारकी बुद्धि द्वारा-दुःख होनेका दुःख-और सुखके साथ मिला हुआ यह सुख मेरा शीघ्रही लुप्त हो जायगा इस प्रकारका दुःख सब सुखोंके साथ रहता है-(तर्क भाषा पृ० १५३) यद्यपि सुख दुःख दोनों फलमें अन्तर्गत हैं तथापि यही दुःखको अलग फिर कहनेका मतलब है कि इस संसारमें सुखकी मात्रा इतनी कमी है कि सभों-को दुःखही मान लेना अच्छा है-संसारके कुल भोगोंको दुःख माननेहीसे विरक्ति होता है-इसीसे दुःखही पर विशेष ध्यान देकर उसीको समझना उचित है।

प्रवृत्तिसे सुख दुःख दोनों होतेहैं इससे इन दोनोंको 'फल' रूपसे निरूपण करना उचित था। परंतु फिर सुख भी दुःख-ही समझनेसे कल्याण है इस बात पर जोर देनेके मतलब से दुःखको अलग भी कहा है—संसारमें दुःख बहुत है-सुख जो है भी तो वह दुःख से मिला ही हुआ पाया जाता है-इससे गौतमने सू. ४. १. ५५ में जन्म कोही दुःख कहा है। और इस बात पर जोर देनेका उद्देश्य यहहै कि जभी जन्म हुआ अर्थात् शरीरेन्द्रियका संयोग हुआ तभीदुःख अवश्य हुआ देवशरीर वालेंको कम-मनुष्य शरीरवालों को उससे कुछ अधिक और शुद्ध जानवर शरीरवालोंकी इससे भी अधिक, दुःखसे छुटकारा नहीं जबतक शरीर है-यह विचार करनेसे शरीर और सकल संसारसे विरक्ति होगी-विरक्ति होनेसे संसारके किसी पदार्थ की तरफ तृष्णा नहीं रहेगी-और तृष्णाके दूर होनेसे सकल दुःख दूर हो जायंगे (भाष्य-१.२१५-१६)

प्रमेय (१२) अपवर्ग।

दुःख रूप जो जन्म उससे छुटकारा पानेको 'मोक्ष' या 'अप-वर्ग' कहते हैं (सू. १. १. २२)। एक बार जिसका अपवर्ग हो-

गया उसका फिर जन्म नहीं होता है। नैयायिकोंने अपवर्गको दुःखनिवृत्ति रूपही माना है-उनके मतमें नित्य सुखरूप मोक्ष नहीं है (भा० १. ६०-३४)। जहां जहां वेद्में मोक्षको परम सुख कहा है वहां सुखपदसे दुःख निवृत्तिही समझना चाहिये। मोक्ष सुख रूप नहीं है इससे लोग इसको नहीं चाह सकते-ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि लोग जैसे मुझको सुख हो ऐसा चाहते हैं वैसेही मुझे दुःख नहो सोभी चाहते हैं।

अपवर्ग है या नहीं सो विचार गौतमने सूत्र भा० ११५६-६८ में किया है। अकसर लोगोंका ऐसा कहना है कि जभी आदमी जन्म लेता है तभी उसके पीछे तीन तरहके ऋण लगते हैं-इस ऋणसे छुटकारा पानेके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता होती है-इस परम्परासे कभी फुरसत नहीं मिल सकती। इसीसे शास्त्रोंमें कहा है कि जन्म लेना और मरना यही मनुष्य का काम है।

पर यह कहना ठीक नहीं। जबतक फल-सुख भोगनेकी आकांक्षा बनी रहती है तभीतक जन्म मरणकी परम्परा बनी रहती है। पर जब रागद्वेष नहीं रहते तब यद्यपि पुरुष कर्म करेगा तथापि उनसे वह बद्ध नहीं होता। (सू. ६४) सकल पदार्थको जानकर जब आदमी यह समझ लेता है कि कोईभी पदार्थ नहीं जिससे दु:ख नहीं होता-तब सभी पदार्थोंसे विराग उत्पन्न होताहै।

अपवर्ग किस तरह होता है सो सूत्र १. १. २ में वर्णित है आत्मा इन्द्रिय इत्यादि जो बारह प्रमेय गिनाये हैं उनके असल स्वरूप का जब ज्ञान होजाता है तब उनके प्रसंग जितना प्रेम मिथ्या ज्ञान रहता है सो सब दूर होजाता है अर्थात् यह साफ मालूम होजाता है कि ये सब चीज़ यथार्थ सुख देने वाली नहीं फिर इनमें से किसी के पाने की इच्छा नहीं होती फिर जब सब चीजों से दुःखही दुःख होने वाला है तब किसी खास चीज से यदि किसी प्रकार का दुख हुआ तो उस चीज से द्वेष भी नहीं उत्पन्न होता है। राग द्वेष रूप दोष के हट जाने से फिर कोई भी व्यापार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जब किसी प्रकार का व्यापार नहीं होता तब धर्म अधर्म नहीं होता फिर

आगे जन्म होने का कोई कारण नहीं बाकी रह जाता। जन्म न होने से दुःख की सम्भावना दूर होजाती है। और इसी दुःख दूर होने को अपवर्ग कहते हैं।

तर्कभाषा में यों संग्रह कर के कहा है। शास्त्रों से कुल पदार्थों का असल स्वरूप जान लेने पर जितने विषय भोग के हैं उनके जो जो दोष हैं सो सब मालूम होजाते हैं। इससे आदमी के मन में वैराग्य उत्पन्न होता है। इसके बाद मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से वह आदमी ध्यान धारणा इत्यादि का अनुष्ठान करके आत्मा के असल रूप को जानता है। जब राग द्वेष नहीं रह जाते और सब कार्य निष्काम होकर करने से उस आदमी के और धर्म अधर्म नहीं उत्पन्न होते। पहिले के जो उसके धर्म अधर्म हैं उनको योगबल से जानकर सभी कि फलों का इकट्ठा भोग करता है। इससे पहिले के अधर्म धर्म के खतम होजाने पर उस आत्मा को फिर शरीर सम्बन्ध होने का कारण नहीं रह जाता। अर्थात् उसका फिर जन्म नहीं होता। इससे शरीर इन्द्रियादि द्वारा जो २१ प्रकार के दुःख हैं इनसे उसका छुटकारा होजाता है। इसी को अपवर्ग या मोक्ष कहते हैं।

केवल दुःख का नहीं होनाही अपवर्ग नहीं कहलाता। दुःख का जब इस प्रकार नाश होजाता है कि फिर किसी प्रकार का दुःख नहीं होता तभी उसको अपवर्ग कहते हैं। इसीसे 'आत्यान्तिक' दुःख निवृत्ति को मोक्ष कहा है। जब तक आत्मा के राग द्वेषादि गुण बने रहते हैं तबतक जिन चीजों में राग है उनके पाने की और जिनसे द्वेष है उनको अलग करने की इच्छा और तदनुसार व्यापार होतेही रहेंगे। ये व्यापार कभी धर्मरूप होंगे कभी अधर्मरूप। जिस व्यापार से जो धर्म होगा उस धर्म का फल जो सुख होने वाला है और जो अधर्म हुआ उसका फल जो दुःख होने-वाला है इन दोनों के भोग करने के लिये जन्म लेना पड़ता है। पर जब राग द्वेषही नहीं रह जाते तब व्यापारही न होते। व्यापार के न होने से धर्म अधर्म नहीं होसकते, धर्म अधर्म नहीं होंगे तो सुख दुःख होहीगा कैसे। फिर किस के भोग करने के लिये जन्म लेने की आवश्यकता रहेगी। इसी से आत्मा के

जो नवों गुण हैं उनकेही उच्छेद को भी अपवर्ग नैयायिकों ने माना है (न्यायमंजरी पृ. ५०८)

तत्वज्ञानही अपवर्ग का मूल कारण है। यह तत्वज्ञान कैसे होता है। इन्द्रियों को विषयों से हटाकर धारणा पूर्वक जब मन एकाग्र करके आत्मा से संयुक्त होता है तब इधर उधर ज्ञान नहीं उत्पन्न होते। और फिर इधर उधर की चीज़ों के प्रति राग द्वेष नहीं होसकते। इसी तरह मोक्ष होता है (सू. ४. २. ३९)। ऐसी मन की एकाग्रता हो इस लिये यमनियम तपस्या प्राणायाम, प्रत्याहार. ध्यान, धारणा इत्यादि जो योग शास्त्र में वर्णित है उनके द्वारा आत्मा का संशोधन आवश्यक होता है (सू. ४. २. ४६) और आत्म-विद्या का अभ्यास और उन शास्त्रों के जानने वालों से आलाप उनसे सुनी हुई बातों का विचार और अपने ऐसे और साथियों के साथ परामर्श (सू. ४. २.) इत्यादि तत्वज्ञान के उपाय चतुर्थाध्याय में वर्णित हैं।

तृतीय पदार्थ-संशय ।

संशय क्या है सो जानने की आवश्यकता होती है, क्योंकि कई तरह के ज्ञान में खासकर अनुमान ज्ञान में संशय का होना आवश्यक होता है। जब मुझे संशय होगा कि यहां आग है या नहीं तभी मैं यह अनुमान करूंगा कि यहाँ आग अवश्य है क्योंकि धूआ निकल रहा है।

इसीसे गौतम ने संशय का लक्षण सूत्र १. १. २३ में किया है। विमर्शज्ञान को अर्थात् जिस ज्ञान में एक कोई चीज़ परस्पर विरुद्ध कई चीजों की तरह भासित होती है उसी को 'संशय' कहते हैं। अर्थात् ईश्वर के प्रसंग ऐसा ज्ञान होता है 'ईश्वर हैं या नहीं है' जिसमें ईश्वर के प्रसंग 'होना' और 'न होना' ये दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव भासित होते हैं। यही संशय कहलाता है। वाचस्पति मिश्रादि प्राचीन नैयायिकों ने और केशव मिश्रादि नवीनों ने भी सूत्र २३ के अनुसार तीनप्रकार के संशय माने हैं। (१) जब कई चीजों के जो समान गुण हैं

अर्थात् उन सभों में जो गुण हैं उन्हीं का ज्ञान होता है और उनके एक एक के जो खास खास गुण हैं उनका ज्ञान नहीं होता, तब जो उनके प्रसङ्ग परस्पर विरुद्ध कई ज्ञान वाला एक ज्ञान उत्पन्न होता है उसी को संशय कहते हैं। जैसे अन्धेरे में हमने कोई एक लम्बीसी चीज़ देखी। यह कोई चीज लम्बी खड़ी है इतनाही साफ मैंने देखा और उस चीज का खास गुण कुछ मैं न देखसका। तो मेरे मनमें यह ज्ञान उत्पन्न होता है- 'क्या यह एक खम्भा खड़ा है या कोई आदमी'। यहां पर लम्बाई जो गुण मैंने देखा सो खम्भा और आदमी दोनोंमें समान हैं। खम्भे के जो खास गुण हैं जिनके द्वारा खम्भा का आदमी से भेद होता है या आदमी के जो खास गुण हैं जिनके द्वारा वह खम्भे से भिन्न समझा जाता है ऐसे कोई गुण नहीं देखे गये। तभी ऐसा संशय होता है कि यह आदमी है या खम्भा। यह पहिली तरह का संशय हुआ। (२) जबकी किसी चीजके प्रसङ्ग पढ़े लिखे लोगोंमें मत भेद पाया जाता है और किसी एक मत की तरफ कोई खास मजबूत सबूत मैं नहीं जानता तब मेरे मन में ऐसा दुविधा होता है कि 'यह चीज ऐसी है या वैसी'। यही दूसरी तरह का संशय है। जैसे नैयायिकोंके मतसे शब्द अनित्य है और मीमांसकों के मत से नित्य। जब तक कोई खास सबूत एक तरफका मैं नहीं जानता तब तक मेरे मन में यही होगा कि 'शब्द नित्य है या अनित्य'। (३) जब कि किसी चीजका मैं केवल कोई ऐसाही गुण जानता हूं जो उस चीज को छोड़ कर और किसी चीज में नहीं है तो मुझे उस चीजके प्रसंग संशय होता है। यही संशय तीसरी तरह का है। जैसे पृथिवी का मैं केवल गन्ध गुण जानता हूं और इसके प्रसंग में कुछ नहीं जानता तो इसमें रंग है या नहीं रस है या नहीं यह नित्य है या अनित्य इत्यादि संशय होंगे।

इन तीन प्रकारोंके अतिरिक्त न्यायमंजरी (पृ० ५६१-५६२) में भाष्य (पृ० ३५) के अनुसार और दो तरह के संशय लिखे हैं। जब कोई चीज देखी जाती है तब कभी ऐसा मनमें आता है कि मुझे इस चीज का भान हो रहा है, मैं इसे देख रहा हूं। इससे

यह चीज यहां पर है ही यह निश्चय नहीं होता क्योंकि अकसर ऐसा होता है कि जो चीज जहां देख पड़ती है वहां वह रहती है जैसे तालाब में पानी और कभी ऐसाभी होता है कि जहां जो चीज देख पड़ती है वहां वह नहीं रहती है जैसे बालूमय भूमि में मृगतृष्णिका का जल। इस बातको स्मरण करके जब कभी मैं जल देखूंगा तो मेरे मनमें यह आवेगा 'यहां जल सचमुच है या नहीं'। यह चौथा प्रकारका सन्देह हुआ। इसी तरह जो चीज मैं नहीं देखता वह हैही नहीं यह ठीक नहीं कहा जा सकता। ऐसा हो सकता है कि वह चीज है पर मैं नहीं देख सकता। जैसे दीवारसे छिपा हुआ आदमी। और कभी ऐसा भी होता है कि जिसे मैं नहीं देखता वह है ही नहीं जैसे घोड़ेके सींघ। यह बात जब मेरे मनमें आवेगी तब जब कभी मैं किसी चीज़ को न देखूंगा तो मेरे मनमें यह संशय होगा कि 'सचमुच यह चीज़ यहां है या नहीं'। यही पांचवीं तरह का संशय हुआ।

वार्तिककारने भाष्यके इस मतको नहीं माना है (पृ० ९९-१००)। इसको न स्वीकार करनेका यह कारण है कि ऐसा यदि संशय का कारण माना जाय तो फिर सब चीजोंके प्रसङ्ग संशय ही हुआ करेगा। फिर तो निश्चयज्ञान कभी होहीगा नहीं। मेरी आंखोंके सामने जो चीज़ है उसके प्रसंग भी यदि होने न होनेका सन्देह हुआ तो फिर होनेका निश्चय कौनसी चीजके प्रसंगमें होगा। वार्तिककार और वाचस्पति मिश्रके मतसे ये दोनों अलग संशय के कारण नहीं हैं। पूर्व कहे हुए तीन कारणों ही में येभी मिले रहते हैं।

चतुर्थ पदार्थ--प्रयोजन।

जिस अर्थ के मतलब से पुरुष की प्रवृत्ति होती है सो 'प्रयोजन' है (सू० १. १. २४)। जब कभी पुरुष कोई व्यापार करता है-मनका, वचनका, या शरीरका तब क्या तो किसी चीजके पाने के लिये या किसी चीज़के त्याग करने के लिये। जिस चीज को पानेके लिये या छोड़ने के लिये पुरुष व्यापार करता है वही चीज 'प्रयोजन' कहलाता है। 'गौण' और 'मुख्य' दो तरह के

प्रयोजन होते हैं। असल में जिस चीज से सुख मिलने की आशा होती है उसी चीजके पानेकी इच्छा होती है और जिस चीज से दुःख होने का डर होता है उसीके त्यागनेकी इच्छा होती है। और इन्हीं दो तरह की इच्छाओंके अनुसार पुरुषकी प्रवृत्ति भी होती है। इससे 'सुख की प्राप्ति' और 'दुःख का त्याग' ऐसी दो प्रवृत्तियों के मुख्य प्रयोजन हैं। (वार्तिक पृ-१०५)। और जिन चीजोंसे सुख या दुःख होता है वे चीज भी प्रयोजन अवश्य हैं क्योंकि सुख पानेकी जब इच्छा होती है तब सुख जिन पदार्थों से होता है उन्हीं के पानेके लिये व्यापार होता है। उसी तरह जब दुःख से बचने की इच्छा होती है तब दुःख देनेवाले पदार्थोंहीं से बचने के लिये व्यापार किया जाता है। पर असल प्रयोजन सुख का पाना और दुःखसे बचना ही है इससे सुख दुःख देनेवाले पदार्थों को गौण प्रयोजन कहा है (न्यायमंजरी पृ० ५६३)।

पांचवां पदार्थ-दृष्टान्त।

जब कि दो आदमी किसी बातके प्रसंग विचार कर रहे हैं और दोनों दो पक्षोंका ग्रहण किये हैं, उस विचारमें यदि कोई ऐसा विषय मालूम हो जिसके प्रसंग दोनोंकी राय एक हो तो वही दृष्टान्त हुआ (सू. १. १. २५)। कठिन विषयोंके समझने और समझानेमें दृष्टान्त से बड़ा काम निकलता है।

दृष्टान्त दो प्रकार के हैं। साधर्म्य दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टांत। आदमी अमर है या नहीं इसका जब विचार दो आदमी करेंगे तो एक आदमी कहेगा कि जिसका जन्म होता है वह अवश्य मरता है और इसके सबूतमें वह कहेगा 'जैसे बकरा'। बकराका जन्म होता है और वह मरता है इस बातको दोनों आदमियोंने देखा है और दोनों मानते हैं। यह साधर्म्य दृष्टान्त हुआ। अर्थात् जो धर्म दृष्टा-आदमीकीहै वही बकरेकीभी है। दोनोंका जन्म और मरण होता है। फिर वही आदमी योंभी कह सकता है। 'जो मरता नहीं उसका जन्म भी नहीं होता'। और इसके सबूत में वह कहेगा 'जैसे आकाश'। आकाशको उत्पन्न होते किसी ने नहीं देखा और उसका नाश भी नहीं होता यह भी दोनों आदमी मानते हैं।

यह वैधर्म्य दृष्टान्त हुआ । क्योंकि आदमी की जो दशा है उससे एक दम उलटी दशा आकाश की है । आदमी के जन्म मरण दोनों होते हैं । आकाश का एक भी नहीं ।

अनुमान का अवयव जो 'उदाहरण' कहा है उससे दृष्टांत का भेद इतना ही है कि जिस बात का अनुमान जिस हेतु से किया जाता है उस हेतु के साथ उस बातका अविनाभाव व्याप्ति जो कि पहिलेसे नहीं ठीक मालूम है उसको उदाहरण द्वारा सिद्ध करते हैं । और दृष्टान्तका यह मतलब नहीं है जिस चीज़ का विचार कर रहे हैं ठीक वही हालत इसका भी है-यह देखलानाही केवल दृष्टान्त का प्रयोजन है ।

छठां पदार्थ-सिद्धान्त ।

'तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः' । ऐसा लक्षण सिद्धान्तका गौतमने (सू.१.१. २५) किया है । इसका तात्पर्य है जो बात प्रामाणिक प्रमाणसिद्ध मानली जाय वही सिद्धान्त है अर्थात् किसी बात को प्रमाण से मानकर फिर जब कहा जाय कि 'यह ऐसा है' तो वह सिद्धान्त कहलाता है । यही व्याख्या वार्तिकने इस सूत्रका किया है और न्याय मंजरीमें (पृ. ५६५) भी इसी व्याख्याको स्वीकार किया है । नवीन नैयायिकोंने भी इसे स्वीकार किया है । तर्कभाषा (पृ. १६०) में लिखा है— जो बात प्रामाणिक समझी जाय वही 'सिद्धान्त' है । परन्तु भाष्यकारकी व्याख्यासे ऐसा मालूम होता है कि इस सूत्रमें तीन तरह के सिद्धान्तोंका निरूपण है । (१) तन्त्र संस्थिति 'शास्त्र-सिद्ध मत ऐसा है' इस प्रकार से कहा गया । (२) 'अधिकरण संस्थिति' शास्त्र सिद्ध जो सिद्धान्त है उसके अनुसार जो और कुछ मतका अनुमान किया जाय। (३) अभ्युपगम संस्थिति–जो बात वैसेही मानली जाती है, और प्रमाणसे स्थिर नहीं की गई है । इस व्याख्याको जो लोग स्वीकार करते हैं उनके मतसे इस सूत्रमें तीन प्रकारके सिद्धांत कहे हैं । इससे इसके पहिले सिद्धान्तके लक्षण वाला सूत्र भाष्यकारने छोड़ दिया है । ऐसा वाचस्पति मिश्रने तात्पर्य टीका (पृ' १७८) लिखा है । परन्तु ऐसा कोई सूत्र न्यायसूचीनिबंध

में या और किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता है। और यदि पाया जाता तो वार्तिककारने इसी २५ सूत्रको सिद्धान्त के लक्षण रूपसे व्याख्यान करते। और फिर चार तरहके सिद्धान्तोंका निरूपण आगे के सूत्रमें किया है तब इस सूत्र में भी तीन तरह के सिद्धान्तका निरूपण व्यर्थ होगा।

सिद्धान्त चार प्रकारके हैं। (१) सर्वतंत्रसिद्धान्त-जो बात सब शास्त्रोंके मतसे विरुद्ध नहीं है और अपने शास्त्र में स्वीकृत हैं जैसे 'गन्ध रूप रस इत्यादि का ग्रहण इन्द्रियों से होता है' 'घ्राण रसन नेत्र इत्यादि इन्द्रिय हैं'। इसी प्रकारकी बातें न्याय शास्त्र में स्वीकृत हैं और दूसरे शास्त्रोंके मतसे भी इन बातोंमें कोई विरोध नहीं है। (सू० १-१-२९)। (२) प्रतितंत्रसिद्धान्त-ऐसा सिद्धान्त जो किसी शास्त्र में स्वीकृत हो किसी शास्त्र में नहीं जैसे पृथिव्यादि परमाणु से सृष्टि होती है यह जो नैयायिकोंका सिद्धान्त है सो वैशेषिक शास्त्र में स्वीकृत है और शास्त्रों में नहीं (सूत्र० १-१-२९)। (३) अधिकरणसिद्धान्त—एक बात जो स्वीकृत हो गई है उसी बात से जो और बातें सिद्ध होती हैं, जिन बातोंके विना पहिले स्वीकृत बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं ऐसी बातें 'अधिकरण सिद्धान्त' कहलाती हैं। जैसे 'इन्द्रियों से अतिरिक्त विषयों को जाननेवाला आत्मा है, यह जब मानलिया जाता है तब इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि 'इन्द्रिय नाना हैं, एक नहीं' 'एक इन्द्रिय से कई तरह की चीजों का ग्रहण नहीं हो सकता है इत्यादि। इन बातों के मानने ही से सबका असल जाननेवाला इन्द्रियोंसे अतिरिक्त है सो सिद्ध हो सकता है नहीं तो किसी एक इन्द्रिय ही को कुल चीजों का जाननेवाला मान लेनेही से सब ज्ञान और स्मरणादि सिद्ध हो जायंगे। फिर इन्द्रियोंसे अतिरिक्त आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं रह जायगी (सूत्र० १-१-३०)। (४) अभ्युपगमसिद्धान्त—जहां किसी वस्तु के प्रसंग किसी खास बात का विचार करने के मतलब से उसके प्रसंग कोई बात मान ली जाती है तो यह मानी हुई बात 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहलाता है। जैसे शब्द नित्य है या अनित्य यह जब विचार मीमांसकोंके साथ करना है तब शब्द क्या है द्रव्य या गुण इस बातका विचार

न करके अपने पक्षकी प्रबलता जानता हुआ नैयायिक इस बात पर मीमांसकोंका मत को स्वीकार कर लेता है कि अच्छा 'शब्द द्रव्यही है जैसा आप कहते हैं'। ऐसा जिस मतका स्वीकार कर लिया जाय वह 'अभ्युपगमसिद्धान्त' हुआ। यदि इतना दूसरे की बात को मान कर भी नैयायिक 'शब्द अनित्य है' सो सिद्ध कर दे तो उसकी बुद्धि की अधिक प्रशंसा होगी। (सूत्र० १-१-३१)

ऐसी व्याख्या भाष्यकार की है। पर वार्तिककार ने दूसरी व्याख्या की है। उनके मतसे नैयायिकोंका 'अभ्युपगमसिद्धान्त' वह कहलावेगा जो सूत्रोंमें नहीं है पर आगे जाकर शास्त्रकारोंने मान लिया है जैसे 'मन इन्द्रिय है' यह बात सूत्रोंमे कहीं भी नहीं है पर नैयायिकोंने मान लिया है। वार्तिककार का मत ठीक मालूम होता है। क्योंकि १-१-२५ सूत्रमें 'प्रमाणसिद्ध' मानकर जो बात 'ऐसी है' इस प्रकार से कही जाय उसीको 'सिद्धान्त' कहा है। फिर खाली अपनी बुद्धिकौशल देखलानेके लिये दूसरे के मत को थोड़ी देरके लिये यदि हमने मान भी लिया तो भी वह मेरे लिये 'सिद्धान्त' नहीं कहला सकता क्योंकि मैंने उसको प्रमाणसिद्ध नहीं माना है।

सातवां पदार्थ--अवयव।

अनुमान वाक्यके अंशों को 'अवयव' कहा है। इनका विचार अनुमान प्रकरणमें पहले हो गया है।

आठवां पदार्थ-तर्क।

जब किसी आदमी को किसी वस्तुका असल रूप जाननेकी इच्छा होती है और उस वस्तु में कई तरह के विरुद्ध गुण होनेकी शंका होती है तब उसको उस वस्तु के प्रसंग संशय होता है क्या यह वस्तु ऐसी है या वैसी है। फिर कुछ सोच विचार कर कुछ युक्तियां वह ऐसी देखता है जिनसे उसको यह बुद्धि होती है कि सम्भव ऐसाही है कि यह वस्तु ऐसी होगी वैसी नहीं। इसी सम्भावना बुद्धि को तर्क कहते हैं। (सूत्र० १-१-४०)। जैसे आत्मा का क्या

रूप है यह जानने की इच्छा हुई। फिर यह उत्पन्न होता है या नहीं उत्पन्न होता है ये दो विरुद्ध गुण की शंका उस आत्मा के प्रसंग होती है। फिर वह विचार करता है कि यदि आत्मा की उत्पत्ति या नाश होता तो एक जन्म में किये हुये कर्मके फलका भोग दूसरे जन्म में कैसे हो सकता—क्योंकि जिसने, पूर्व जन्म में कर्म किये हैं वह तो मरने पर एक दम नष्ट हो गया। इन विचारों से मालूम होता है कि आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती होगी। यही तर्क कहलाता है। 'आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती' ऐसा तर्कका स्वरूप नहीं माना है क्योंकि यह तो यथार्थ ज्ञान ही होगा और तर्क को यथार्थ ज्ञानका कारण माना है। और फिर तर्क में दृढ़ता नहीं रहती। 'ऐसाही है' ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं होता 'ऐसा होगा' इसी प्रकार कुछ सन्दिग्धही रहता है। संशय और निश्चय के बीच में तर्क आता है 'आत्मा उत्पन्न होता है या नहीं' यह संशय हुआ। 'आत्मा नहीं उत्पन्न होता' यह निश्चय हुआ। परन्तु आत्मा उत्पन्न होगा या नहीं इस संशय के बाद हमारे मनमें यह आता है कि 'मालूम होता है कि आत्मा उत्पन्न नहीं होता' तब इसके बाद यह निश्चय होता है कि 'आत्मा नहीं उत्पन्न होता है'। ऐसाही क्रम सब संशयों में पाया जाता है। तर्क सम्भावना रूप होने पर भी असल बातका ज्ञान जल्द और ज्यादे दृढ़ होता है इसी से तर्कको 'तत्त्वज्ञानार्थ' कहा है।

प्राचीनों का ऐसा लक्षण तर्क का है। नवीनों ने तर्क को 'अनिष्टप्रसंग' कहा है (तर्कभाषा पृ. १६२)। तात्पर्य इसका यह है कि संशय में दो तरह की बात की सम्भावना की जाती है। 'आत्मा उत्पन्न होता है या नहीं'। फिर यह विचार होता है कि 'यदि आत्मा उत्पन्न होता तो पूर्व जन्म के कर्मों के फल का भोग इस जन्ममें नहीं होता'। इसी युक्ति को जिसमें एक पक्षके स्वीकार से क्या अनिष्ट या गलती होती है सो दिखलाया जाता है—'तर्क' कहते हैं। प्राचीन नवीन मत में भेद इतनाही है कि इस युक्ति से जो दूसरे पक्ष के होने की सम्भावना मन में आती है उसको प्राचीनों ने 'तर्क' माना है, और नवीनों ने उस युक्ति ही को।

नवम पदार्थ—निर्णय

जिस वस्तु के प्रसंग तर्क होता है 'ऐसा होगा' उसी वस्तु के प्रसंग इस तर्क के बाद निश्चय ज्ञान होता है 'यह ऐसा है'। जब दोनों पक्षों का विचार करने पर तर्क के द्वारा 'यह वस्तु ऐसीही है' यह निश्चय होता है—उसी निश्चयात्मक ज्ञान को 'निर्णय' कहते हैं (सूत्र १. १. ४१)। 'आत्मा उत्पन्न होता है—नहीं होता है'—इन दोनों पक्षों के साधक बाधक युक्तियों को विचार कर जब मुझे यह निश्चय हो जाता है कि 'आत्मा नहीं उत्पन्न होता' तब यह मेरा ज्ञान 'निर्णय' हुआ। दोनों पक्षों का विचार करने से जो निश्चय होता है वह यदि निर्णय है तो प्रत्यक्ष या शाब्दज्ञान 'निर्णय' नहीं कहलावेगा। इससे भाष्यकार ने (पृ. ४८) कहा है कि असल में निश्चयरूप ज्ञानही को निर्णय कहते हैं—इससे प्रत्यक्ष या शाब्दज्ञान भी जब निश्चय रूप से होगा तब अवश्य 'निर्णय' कहलावेगा। तब 'दोनों पक्षों का विचार करने से' ऐसा जो सूत्रकार ने लिखा उसका तात्पर्य केवल वैसे ज्ञानों से है जिनके प्रसंग मतभेद है या संशय हो गया है। इसका कारण यह है कि सूत्रकार ने वादी प्रतिवादी के बीच जो विचार होता है उसी को चित्त में रखकर सब बातें कही हैं इसीलिये इस सूत्र में भी ऐसा कहा है। असल में निश्चय ज्ञान मात्र को 'निर्णय' कहना चाहिये। नवीन नैयायिकों का भी ऐसाही मत है। तर्कभाषा में लिखा है (पृ. १६५) 'निश्चय ज्ञान को निर्णय कहते हैं—यह प्रमाणों का फल है'। यदि प्रत्यक्ष शाब्दज्ञान को निर्णय न मानते तो 'प्रमाणों का फल' इसे नहीं कहते। परन्तु न्यायमंजरी के मत से तर्क को न्याय (अनुमान) का अवसान मानते हैं—इससे अनुमान ज्ञानही को निर्णय कह सकते हैं—इसी से सूत्रकार ने 'दोनों पक्षों के विचार करने से' ऐसा कहा है। इनके मत से इन्द्रियादि अन्य प्रत्यक्ष ज्ञान कभी 'निर्णय' नहीं कहला सकते (न्यायमंजरी पृ. ५८१)

दसवां, ग्यारहवां, बारहवां पदार्थ—वाद-जल्प-वितंडा

जब दो आदमी वादी और प्रतिवादी किसी बात का विचार करते हैं तो उन दोनों के बीच जो बातें होती हैं उनको 'कथा' कहते हैं। (भाष्य. पृ. ४६) यह कथा तीन प्रकार की होती है—वाद जल्प और वितंडा।

(१) जिस कथा में दोनों आदमी विचारणीय विषय में असली बात क्या है—ईश्वर है या नहीं—यह निश्चय करने के लिये प्रवृत्त होते हैं और इस मतलब से एक आदमी एक पक्ष का अवलम्बन कर लेता है—'ईश्वर' है और उस पक्ष की जितनी साधन युक्तियां हैं उनको कहता है और दूसरे पक्ष के विरुद्ध जो जो युक्तियां हैं उनको भी कहता है—इसी तरह दूसरा आदमी भी दूसरे पक्षका ग्रहण करता है—'ईश्वर नहीं है' और उसका साधन और पहिले पक्ष के बाधन युक्तियों को कहता है—और दोनों आदमी शास्त्रीय मत के अनुसार सब बातें करते हैं. शास्त्रीय प्रमाणों का शास्त्रीय रीति से प्रयोग करते हैं। और ज्योंहीं एक के पक्ष में कोई भी निग्रहस्थान (आगे निरूपण किया जायगा) ऐसा दोष जिसका समाधान नहीं हो सकता—दिखला दिया जाय तो उसी दम वह अपने पक्ष को छोड़ता है और दूसरे के पक्ष को सत्यं मान कर कथा समाप्त करता है। यह कथा 'वाद' कहलाती है। जिसमें दो आदमी तत्व सचबात क्या है इसीके निर्णय करने के मतलब से कथा करते हैं। (सू. १. २. १)

(२) दूसरी कथा है 'जल्प' है। इसमें भी वादी प्रतिवादी वाद की तरह कथा करते हैं और कुल रीति वाद की तरह होती है किन्तु क्या तत्व है सो निर्णय करना इसमें किसी का मतलब नहीं रहता। मतलब रहता है केवल दूसरे को हराने का—किसी तरह अपनी जीत हो। इससे शास्त्रीय ही प्रमाण या शुद्धही अनुमान युक्तियों का प्रयोग इसमें नहीं होता। मनमानी युक्तियों का भी प्रयोग होता है हम जो हेतु कह रहे हैं सो ठीक नहीं हैं ऐसा जानते हुए भी वह आदमी यदि समझता है कि इसके कहने से मेरा प्रतिवादी उत्तर न दे सकेगा चुप हो जायगा तो वह अवश्य

उस हेतु का प्रयोग करेगा । और यद्यपि अपने पक्ष को मिथ्या भी जानता रहेगा तौभी केवल अपनी जीत के लिये वह मनमानी हेतुओं का उपन्यास करता ही रहेगा । किसी तरह जो पक्ष मैंने लिया है वह स्थिर होना चाहिये वह सत्य है वा मिथ्या उससे कुछ मतलब नहीं । यही भेद वाद और जल्प में है । इसीसे वाद मे अपने पक्ष में यथार्थ दोष देख कर वादी दूसरे के पक्ष को सत्य मान लेता है और दोनो उस पक्ष को 'तत्व' समझते हैं । जल्प मे ऐसा नहीं एक वादी हार भी जाता है तौभी क्या तत्व है सो सन्देह रही जाता है क्योंकि दोनो जानते हैं कि इस कथा में जितने हेतु कहेगये हैं सो शुद्ध हेतु है ऐसा नहीं इससे यद्यपि मैं अब उत्तर नहीं दे सकता तथापि असल बात क्या है सो मैं नही जानता । (१. २. २.)

(३) तीसरी कथा है वितंडा । इसमें दोनो वादी अपना अपना पक्ष एक एक लेते हैं सो नहीं । वितंडा मे अपने पक्ष के साधन से कुछ मतलब नहीं रहता केवल दूसरे के मत को खंडनही करना उद्देश्य रहता है । जल्पसे इसका यह भेद है कि जल्प में दूसरे को हराने ही से केवल मतलब नहीं रहता दूसरे को हराकर मैं अपना पक्ष स्थिर करूँ यह मतलब रहता है । वितंडा में तो अपना पक्षही कोई नहीं "मैं नहीं कह सकता क्या बात सच है पर तुम जो कुछ कहते हो सो ठीक नहीं" इसी आधार पर केवल बकवाद करता है और इससे वाद जल्प की तरह इसके साधक बाधक दोनों युक्तियों का प्रयोग नहीं होता क्योंकि साधक किस बात का होगा अपना तो पक्षही नहीं है । केवल बाधक युक्तियोंही का प्रयोग होता है । जिससे दूसरे के पक्ष के दोष दिखलाये जायं ।

तेरहवां पदार्थ—हेत्वाभास ।

अनुमान के प्रयोग में हेत्वाभास दुष्ट या अशुद्ध हेतु पाये जाते हैं इससे इनका विचार अनुमान प्रकरण में किया गया है ।

चौदहवां पदार्थ—छल।

जल्प रूपी कथा में जब प्रतिवादी की बातों का इस तरह से उलटा तात्पर्य निकालाजाय जिससे उसका मुंह बन्द हो जाय वह फिर कुछ न कह सके इसीको छल कहते है (सूत्र. १. २. १०)।

छल तीन प्रकार का होता है।

(१) वाक् छल—प्रतिवादी ने जब कुछ ऐसे शब्द कहे जिनके कई अर्थ हो सकते हैं तब जिस मतलब से उसने उन शब्दों को कहा है उसको छोड़ कर दूसराही अर्थ उसका लगा कर उसका निषेध कर दिया जाता है और इससे प्रतिवादी को फिर कुछ कहने का अवसर नहीं रह जाता। जैसे किसीने एक नया कम्बल ओढे बालक को देख कर कहा—'नवकम्बलोऽयं बालकः' इसके दो अर्थ हो सकते हैं 'इस बालक का कम्बल नया है' और 'इस बालक के ९ कम्बल हैं'। इसपर उसका प्रतिवादी यदि कह दे 'तुम झूठेहो इसको तो एकही कम्बल है। नव कम्बल नहीं है'। फिर पहिला आदमी चुप हो जाता है। (१. २. १२)

(२) सामान्य छल—जब कोई वादी किसी शब्द का प्रयोग करता है तब उस शब्द के अर्थ को बहुत अधिक फैला कर उसकी कही हुई बात को अशुद्ध साबित जब कोई करता है तो यह सामान्य छल कहलाता है। जैसे राजा की सभा में किसी ब्राह्मण की कोई तारीफ करता है 'यह बडा विद्वान् है। उसपर दूसरा आदमी कहता है 'ब्राह्मण है तो विद्वान् क्यों नहो'। इसपर तीसरा आदमी कह सकता है यदि ब्राह्मण होनेहीसे विद्वान् होतो जिसने पठन पाठन नहीं किया वह भी विद्वान् हो सकता है। दूसरा आदमी ब्राह्मण शब्द 'का अर्थ अच्छी तरह ब्रह्मचर्य पालन करके जिसने शास्त्रों का अभ्यास किया' समझ कर कहा कि 'जब ब्राह्मण है तो विद्वान् क्यों न हो' पर तीसरे आदमी ने 'ब्राह्मण' पद का इतनाही अर्थ नहीं रक्खा—'ब्राह्मण के कुलमें जिस किसी का जन्म है' सभों को उसने ब्राह्मण पद से लेकर अपना मत प्रकाश किया। और जब पहिला बोलने वालेने सन्दिग्ध अर्थ वाले पद का प्रयोग किया तब उसको आगे उत्तर में कुछ कहने का अवसर नहीं रहता इससे उसका मुंह बन्द हो जाता है। (सू. १. २. १३)

(३) उपचार छल—जब वादी किसी शब्द को सांशयिक अर्थ में प्रयोग करता है उस समय यदि प्रतिवादी उस शब्द का असल अभिधेय अर्थ लगा कर उसके वाक्य का निषेध कर दे तो यह उपचार छल कहलाता है। जब कोई आदमी कहता है 'यह गांव गंगा में है' तो यहां उसका तात्पर्य 'गंगा' पदसे नदी का नहीं रहता किन्तु 'गंगातीर' से रहता है। परन्तु प्रतिवादी कह सकता है 'भला ऐसा भी कहीं होसकता है कि कोई गांव गंगा में हो' अर्थात् गंगा नदी के भीतर किसी गांव का होना असंभव है। इसके उत्तर में पहिला आदमी कुछ नहीं कह सकता (सू. १. २. १४)

तीनों तरह के छल में वादी के शब्दों का उलटा अर्थ समझ कर निषेध किया जाता है। इससे नवीन नैयायिकोंने एकही प्रकारका छल माना है (तर्कभाषा. पृ. १८१—८१)। परन्तु सूत्रकारने इस पक्ष का निराकरण किया है (सू. १. २. १५—१६)।

पंद्रहवीं पदार्थ—जाति—असत् उत्तर।

वादी की कहीहुई युक्तियों का जब प्रतिवादी असल उत्तर देने में असमर्थ होकर कुछ अंड बंड उत्तर देता है तो ये ऐसे असत् उत्तर 'जाति' कहलाते हैं।

जाति के २४ भेद सूत्र में (५. १. १.) कहे हैं। यद्यपि असल में इस के भेद अनन्त हो सकते हैं (सू. १. २. ६१)

(१) (२) साधर्म्य वैधर्म्य रूप—वादी ने साधर्म्य वैधर्म्य दृष्टान्त देकर जिस हेतु को कहा उसका निषेध सीधे न कर के उलटा दृष्टांत देकर यदि प्रतिवादी उसका निषेध करता है। जैसे वादी ने कहा 'शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्न से इसकी निष्पत्ति होती है जैसे घट'—या 'जैसे आकाश जो कि प्रयत्न से निष्पन्न नहीं होता इससे अनित्य भी नहीं है'। इस हेतु में कोई साक्षात् दोष नहीं देकर प्रतिवादी दूसरा हेतु कहता है। 'शब्द नित्य है क्योंकि इसके अवयव नहीं है' 'जैसे आकाश'। (सू.५ १. २.)

(३) उत्कर्षसम—वादी किसी एक अंश का सादृश्य लेकर दृष्टांत का प्रयोग करता है प्रतिवादी उसी दृष्टांत के और अंश का सादृश्य नहीं है सो दिखलाता है, अर्थात् साध्य वस्तु में दृष्टांत के

और अधिक धर्मोंका आरोप करके निषेध करता है। जैसे वादीने कहा 'शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्न से निष्पन्न होता है जैसे घट' प्रतिवादी कहता है 'यदि शब्द घट के सदृश है तो घट की तरह वह मूर्त भी होगा सो असम्भव है इससे घट का सादृश्य शब्द में नहीं हो सकती इससे घट की तरह शब्द अनित्य भी नहीं हो सकता।

(४) अपकर्षसम में दृष्टांत में जो न्यूनतायें हैं उनका साध्य में, आरोप किया जाता है। जैसे जब प्रतिवादी कहे 'अगर घट का सादृश्य शब्द में है तो जैसे घट का प्रत्यक्ष श्रवणेन्द्रिय से नहीं होता इसी तरह शब्दका भी श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होगा।

(५) (६) वर्ण्यसम—अवर्ण्यसम में वादीने जो पक्षके सदृश किसी को दृष्टांत कहा उसमें पक्ष का सादृश्य लगा कर उस युक्तिका निषेध किया जाता है। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्न से निष्पन्न होता है जैसे 'घट' इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है 'यदि शब्द के सदृश घट है तो शब्द सन्दिग्धसाध्यवान् है अर्थात् शब्द अनित्य है या नहीं यह सन्दिग्ध है तभी तो कहे हुये अनुमान का प्रयोग हो सकता था—तब घट भी सन्दिग्ध साध्यवान् होगा—अर्थात् घट भी अनित्य है या नहीं यह सन्दिग्ध होगा—फिर इस दृष्टांत से शब्द की अनित्यता कैसे सिद्ध हो सकती—यह उत्तर 'वर्ण्यसम हुआ'। यदि यों कहा जाय कि 'यदि घट सन्दिग्धसाध्यवान् नहीं तो शब्द भी सन्दिग्धसाध्यवान् नहीं होगा—तब इसके प्रसंग अनुमान असम्भव है'—तो यह उत्तर 'अवर्ण्यसम' होगा।

(७) विकल्पसम—जो हेतु पेश किया गया उसमें कई तरह के धर्म हैं सो दिखलाकर फिर पक्ष के प्रसंग भी कई तरह के धर्मों का होना जब दिखलाया जाय तो यह उत्तर 'विकल्पसम' कहलाता है। 'शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्न से निष्पन्न होता है—जैसे घट'—यहाँ ऐसा कहा जा सकता है—'प्रयत्न से निष्पन्न वस्तु सब एक प्रकार की नहीं पाई जाती—घट प्रयत्न से बनता है सो कठोर है, कपड़ा प्रयत्न से बनता है सो कोमल है—जैसे

प्रयत्न से बनी हुई वस्तु कठोर कोमल दोनों होती हैं इसी तरह प्रयत्न से निष्पन्न शब्द नित्य अनित्य दोनों हो सकता है।

(८) साध्यसम—वादी ने जिस दृष्टान्त को पेश किया है उसको भी साध्य ही के सदृश बना देना—'साध्यसम' उत्तर कहलाता है। जैसे—घट के सदृश शब्द है इससे तुम शब्द को अनित्य कहते हो—अच्छा यदि घट के सदृश शब्द है तो घट भी शब्द के सदृश होगा—शब्द की अनित्यता साध्य है अर्थात् अभी सिद्ध नहीं है—इससे घट की भी अनित्यता साध्य होनी चाहिये—और जो स्वयं साध्य है सो दूसरे को कैसे सिद्ध कर सकता। इसलिये घट की अनित्यता से शब्द की अनित्यता नहीं सिद्ध हो सकती।

(९) (१०) प्राप्तिसम—अप्राप्तिसम। जहाँ ऐसा कहा जाय—'तुम जो हेतु कहते हो क्या वह हेतु और जो तुम्हारा साध्य है सो एक आधार में वर्तमान है या नहीं—यदि वर्तमान हैं तो दोनों बराबर हैं फिर किस को तुम हेतु कहोगे किस को साध्य?'—यह उत्तर प्राप्तिसम हुआ। फिर जब कहा जाय—'यदि दोनों एक आधार में नहीं रहते तो तुम्हारा हेतु साध्य का साधन कैसे कर सकता'—यह उत्तर 'अप्राप्तिसम' हुआ।

(११) प्रसंगसम—दृष्टांत जो कहा जाय 'शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्न से निष्पन्न होता है जैसे घट'। इसके उत्तर में यदि कहा जाय—'घट अनित्य है इसमें क्या प्रमाण जबतक इसका सबूत नहीं कहा जाय तब तक हेतु ठीक नहीं माना जा सकता'—यह उत्तर 'प्रसंगसम' हुआ।

(१२) प्रतिदृष्टांतसम—जिस बात के सिद्ध करने के लिये एक दृष्टांत पेश किया गया उसके जवाब में यदि दूसरा दृष्टांत उसका उलटा सिद्ध करने के लिये पेश कर दिया जाय—जैसे—'जैसे प्रयत्न से निष्पन्न घट तुम अनित्य का दृष्टांत बताते हो। वैसेही प्रयत्न से निष्पन्न घट का ध्वंस मैं नित्य का दृष्टांत बता सकता हूँ'—यह उत्तर प्रतिदृष्टांतसम कहलाता है।

(१३) अनुत्पत्तिसम—जिस चीजके प्रसंग कोई हेतु कहा जाय—उस चीज़ के प्रसङ्ग यदि यह दिखलाया जाय कि जबतक चीज

की उत्पत्ति ही नहीं हुई फिर कहा हुआ हेतु कहां रहेगा—तो इस उत्तर को अनुत्पत्तिसम कहते हैं। जैसे—जब वादी ने कहा—'शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है'—तो इसपर प्रतिवादी कह सकता है—'यदि शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है, तो प्रयत्न से पहिले इसकी उत्पत्ति नहीं होगी,—और जब शब्द उत्पन्न नहीं हुआ तब प्रयत्न से उत्पन्न होना यह गुण कहां पर रहेगा—इस गुण का आधार ही जब नहीं रहा तो यह 'अनित्यत्व' का साधन क्योंकर कर सकता। इससे शब्द को नित्य मानना अवश्य पड़ेगा।

(१४) संशयसम—जब किसी बात के साधन के लिये कोई हेतु उत्पन्न होता है तब प्रतिवादी यदि उसी तरह के हेतु उस बात के विरुद्धसाधन का बतलाकर वादी को संशय में डाल दे—तो यह उत्तर 'संशयसम' कहलाता है। जैसे वादी ने कहा—'शब्द अनित्य है क्योंकि यह प्रयत्न से उत्पन्न होता है जैसे घट'—इसपर प्रतिवादी कहता है—'शब्द नित्य है क्योंकि इन्द्रियग्राह्य है—जैसे सामान्य'—इससे दोनों पक्ष के हेतुओं को देखकर वादी संशय में पड़ जाता है।

(१५) प्रकरणसम—एक ही वस्तु के प्रसंग यदि दो तरह की बात सिद्ध कर दी जाय—तो यही उत्तर 'प्रकरणसम' कहलाता है। जैसे 'शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न होता है' ऐसा कहे जाने पर प्रतिवादी कह सकता है—'शब्द नित्य है क्योंकि इसके अवयव नहीं—जैसे आकाश'। साधर्म्यसम जाति से इस जाति का इतना ही भेद है कि उसमें दूसरे की कही हुई बात के खंडन ही से तात्पर्य रहता है, पर इसमें उसके कहे हुये के विरुद्ध पक्ष का साधन ही मुख्य उद्देश्य रहता है।

(१६) अहेतुसम—वादीने हेतु उपन्यास किया उसके प्रसंग यदि यह कहा जाय कि भूत भविष्य या वर्तमान किसी कालमें वह हेतु हेतु नहीं हो सकता तो यही उत्तर 'अहेतुसम' कहलाता है। जैसे वादीने किसी बातके सिद्ध करने के लिये कोई हेतु कहा उसपर प्रतिवादी यों कह सकता है 'यदि तुम्हारा जो हेतु है वह साध्य—जो धर्म उस हेतुसे सिद्ध होता है—के पहिले जरूर

होगा नहीं तो वह धर्मही कहाँसे हो सकेगा। और जब तक यह साध्यही नहीं है तब तक वह हेतु साधनहीं किसका होगा। यदि साध्यके पीछे साधन होगा, तो जब तक साधन नहीं तब तक साध्यही कैसा। अगर दोनों साध्य और साधन साथही उत्पन्न हों तो उनमें परस्पर साध्यसाधनसम्बन्ध नहीं हो सकता। जब तक कुछ आगे पीछे न होगा तब तक यह सम्बन्ध होही नहीं सकता।'

(१७) अर्थापत्तिसम—'यदि मेरा कहना न स्वीकार करो तो बड़ा दोष पड़ेगा' इस प्रकारसे उत्तर कहा जाय उसीको 'अर्थापत्तिसम' कहते हैं। जैसे 'शब्द' नित्य है क्योंकि घटकी तरह यह प्रयत्न से उत्पन्न होता है' इसके उत्तरमें कह सकते हैं 'शब्द नित्य है क्योंकि आकाश की तरह इसके अवयव नहीं हैं—यदि इसको नित्य न मानो तो इसके निश्चय न होने में बड़ा दोष पड़ेगा और यदि निश्चय न मान लिया तो फिर अनित्य मानने में बड़ा दोष पड़ेगा।

कई जातियों का तात्पर्य एक सा है परन्तु कहनेके ढंग में जो भेद पड़ता है उसी भेदसे इन्हें भिन्न भिन्न जातिमें गिनाया है।

(१८) अविशेषसम—वादी किसी चीजके सादृश्य से कोई बात सिद्ध करता है जैसे घटके सादृश्य से शब्दको अनित्य सिद्ध करते हैं। इसके उत्तरमें कहा जायगा यदि प्रयत्नसे उत्पन्न होता है इतनीही सादृश्य घट और शब्द में होनेके कारण शब्द अनित्य हो तो. इतना स्वल्प सादृश्य तो सभी चीजों में है—फिर इस सादृश्य के द्वारा सब चीजोंके धर्म एकही होंगे यहभी मानना पड़ेगा।

(१९) उपपत्तिसम—वादी जिस बातको सिद्ध करने की कोशिश करता है उसको स्वीकार करके फिर उसके विरुद्ध पक्षके साधनकी भी युक्ति वैसीही प्रबल यदि बतलाई जाय तो वह 'उपपत्तिसम' उत्तर कहलाता है। उदाहरण इसकाभी 'साधर्म्यसम' के समान है—केवल कहने के ढंग में फरक है।

(२०) उपलब्धिसम—जो हेतु वादी कहता है उसके विना भी उसका साध्य पाया जाता है—यह यदि दिखलाया जाय तो

यह उत्तर 'उपलब्धिसम' कहलाता है—जैसे—'शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्न से उत्पन्न है'—इसके उत्तर में कहा जाता है—'हवा के झोंके से जब वृक्ष गिरता है, सो तो प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता है—पर तो भी यह शब्द अनित्य पाया जाता है'।

(२१) अनुपलब्धिसम—वादी किसी बात के न पाये जाने के आधारपर किसी बात को सिद्ध करना चाहता है, उस पर यदि प्रतिवादी किसी और बात के न पाये जाने से उसकी उलटी बात सिद्ध करे तो यह उत्तर 'अनुपलब्धिसम' कहलाता है। जैसे—वादी कहता है—'जब तक बोलनेवाला प्रयत्न नहीं करता तबतक शब्द नहीं सुनाई देता—और शब्द न सुनाई देने का कोई कारण नहीं पाया जाता है—इससे सिद्ध होता है कि शब्द नहीं रहता है प्रयत्न से उत्पन्न होता है'। इसके विरुद्ध प्रतिवादी यों उत्तर करते हैं—'जैसे शब्द के न सुनाई देने का कोई कारण नहीं पाया जाता—वैसेही इस कारण के न देखे जाने की बात भी तो नहीं देखी जाती—और आपही के कहने के अनुसार—जो नहीं देखा जाता सो नहीं है—तब उन कारणों की अनुपलब्धि नहीं है—यह मानना पड़ेगा—अर्थात् वे कारण देखे जाते हैं। इससे शब्द के न सुने जाने के कारण यदि देखे जाते हैं तो 'शब्द पहिले नहीं था—प्रयत्न से उत्पन्न हुआ' यह कहना ठीक नहीं'।

(२२) अनित्यसम—घट का सादृश्य शब्द में है इससे शब्द अनित्य है—तो घट का सादृश्य तो कोई न कोई सब वस्तुओं में होगा—तो फिर सभी वस्तु अनित्य होंगी। यह उत्तर अनित्यसम हुआ।

(२३) नित्यसम—जो बात सिद्ध करने की कोशिश वादी करता है वही नित्य है या अनित्य सो विचार उठाकर उसके प्रश्न का यदि खंडन किया जाय—तो यह उत्तर 'नित्यसम' कहलाता है। जैसे—'शब्द अनित्य है यह आप कहते हैं। अच्छा यह शब्द की अनित्यता नित्य है या अनित्य—यदि अनित्य है तो कभी रहेगी कभी न रहेगी—जब नहीं रहेगी तब शब्द नित्य हो जायगा। यदि शब्द की अनित्यता नित्य है—तो यदि गुण नित्य है तो उस गुण का आधार अनित्य नहीं हो सकता—क्योंकि बिना

आधार के गुण रह्ही नहीं सकता। इस तरह भी शब्द नित्य हो जाता है'।

(२४) कार्यसम—प्रयत्न से उत्पन्न जो कार्य होते हैं उनका विचार जिस उत्तर में करके वादी के पक्ष का खंडन किया जाता है सो उत्तर 'कार्यसम' कहलाता है। जैसे 'प्रयत्न से उत्पन्न हुआ इससे शब्द को आप अनित्य कहते हैं—पर प्रयत्न से उत्पन्न कई वस्तु नित्य भी होती है जैसे कोई आदमी जब घड़ा को फोड़ डालता है तब जो घट का ध्वंस—नाश—उत्पन्न हुआ सो नित्य ही होता है। इससे 'प्रयत्न से उत्पन्न हुआ' इसीसे अनित्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता।

जिस कथा में वादी प्रतिवादी दोनो ऐसे ऐसे अनुचित उत्तरों का प्रयोग करते हैं सो कथा छ कक्षा से अधिक नहीं चलती। इतने में यातो एक न एक अवश्य चुप हो ही जायगा। या दोनो आगे फजूल विवाद बढ़ाना नहीं पसन्द करेंगे इससे छठीही कक्षा में कथा समाप्त होगी। इसीको 'षट्पक्षी' कहा है। जिस का उदाहरण गौतम ने ५. १. ४०., ४२—४४ सूत्रों में दिखलाया है।

सोलहवां पदार्थ निग्रहस्थान।

'निग्रह' पराजय के 'स्थान' कारण को निग्रहस्थान कहते हैं। अर्थात् जिन कारणों से वादी पराजित होजाय, हार जाय। ये कारण दो तरह के हो सकते हैं (१) यातो उसकी समझ ही उलटी सबूत हो जाय जिससे शुद्ध को अशुद्ध और अशुद्ध को शुद्ध वह समझता हो। (२) या वह कुछ समझ न सके अर्थात् अपने पक्ष का साधन और दूसरे के पक्ष का दूषण न कर सके। इनही दो कारणों से वादी हारता है। यातो जो करना चाहिये (अपना साधन दूसरे का दूषण) सो नहीं करने से या जो करना चाहिये उसका उलटा ही करने से। (सूत्र. १. २. ६०) निग्रहस्थान के बहुत भेद हैं (सूत्र. १. २. ६१)। परन्तु ५. २. १ सूत्र में २२ तरह के निग्रह स्थान गिनाये हैं। और ५. २. २—२५ सूत्रों में इनके प्रत्येक का लक्षण और उदाहरण दिखलाये हैं॥

(१) प्रतिज्ञाहानि--वादीने अपने सिद्धान्त में हेतु और दृष्टांत दिखलाया उसपर प्रतिवादीने दूसरा दृष्टांत देकर दोष दिखलाया इसपर यदि प्रतिवादी के दृष्टांत को वादी स्वीकार करले जिससे उसको अपने सिद्धान्त का विरुद्ध पड़ता हो तो उसकी प्रतिज्ञा की अपने पक्षकी हानि हुई। जैसे

वादी--'शब्द अनित्य है क्योंकि इन्द्रियग्राह्य है जैसे घट' प्रतिवादी--'सामान्य भी तो इन्द्रियग्राह्य है और तिस पर भी वह नित्य है'।

वादी—'सामान्य इन्द्रियग्राह्य है और नित्य है तो घट भी वैसा ही है'।

इससे यह आया कि घट यदि नित्य है तो शब्द भी नित्य है--वादी के मत के बिलकुल उलटा।

(२) प्रतिज्ञान्तर—किसी वस्तु के प्रसंग किसी बात का साधन करने चले—उसपर यदि प्रतिवादी ने कुछ दोष दे दिया—तो उसी वस्तु के प्रसंग कुछ और ही बात कह चले। जैसे

वादी—शब्द अनित्य है क्योंकि इन्द्रियग्राह्य है जैसे घट।

प्रतिवादी—सामान्य भी इन्द्रियग्राह्य है पर वह नित्य है।

वादी—सामान्य सर्वव्यापी है शब्द सर्वव्यापी नहीं है।

इसमें शब्द की अनित्यता को छोड़ कर वह सर्वव्यापी नहीं है सो एक नई बात कह चले।

(३) प्रतिज्ञाविरोध—जो हेतु पेश किया सो यदि अपने सिद्धान्त के विरुद्ध पड़े—जैसे।

'ईश्वर दयालु हैं--क्योंकि संसारी मनुष्यों को बड़ा क्लेश देते हैं।

(४) प्रतिज्ञासंन्यास—अपना सिद्धान्त कहकर—जब दोष दिया गया—तब यदि उस सिद्धान्त को अपने अलग करलें—जैसे—

वादी—'शब्द अनित्य है क्योंकि इन्द्रियग्राह्य है—जैसे घट।

प्रतिवादी—'सामान्य भी तो इन्द्रियग्राह्य है—पर वह तो नित्य है।

वादी—'यह किसने कहा कि शब्द अनित्य है'।

(५) हेत्वन्तर—सामान्य रूप से एक हेतु कहा—उस पर जब दोष दिया गया—तब उसी हेतु में विशेषण लगाकर पेश करते हैं—जैसे—

साङ्ख्यशास्त्री ने कहा—'जितनी व्यक्त वस्तु है सभों का मूल कारण एकही है—क्योंकि ये सब परिणामी हैं।

प्रतिवादी—'परिणामी वस्तु कई ऐसी पायी जाती हैं जिनके मूलकारण एक नहीं—कई हैं।

साङ्ख्य—'अजी सो नहीं—सुखदुःखमोहसमन्वित जितनी व्यक्त वस्तु हैं सब परिणामी हैं—इसी हेतु से मूलकारण एक ही होगा'।

यहां इस अन्तिम वाक्य में एक दम दूसरा प्रयोग हो गया।

(६) अर्थान्तर—जो बात प्रस्तुत है उससे कुछ और ही अंडबंड बका जाय। जैसे

वैयाकरण—' शब्द नित्य है—क्योंकि निरवयव है—यह हम लोग पाणिनि के अनुयायी मानते हैं—और पाणिनि कैसे हैं जिन्होंने महादेव से अक्षरसमाम्नाय को पाकर समस्त व्याकरण शास्त्र बनाया। महेश्वर भी कौन—जिनसे पाणिनिने अक्षरसमुदाय को पाया इत्यादि।

(७) निरर्थक—अर्थशून्य बिना मतलब के शब्दों का जब प्रयोग करता है—' शब्द नित्य है—क्योंकि कचटतप जबगडश हैं ' इत्यादि।

(८) अविज्ञातार्थ—वादीने जो कुछ कहा उसका अर्थ नहीं समझ पड़ा—और कहना पड़ा—'जो आपने कहा सो बड़ा कठिन विषय है—मेरी समझ में नहीं आता '

(९) अपार्थक—जब ऐसे ऐसे अनेक वाक्यों का प्रयोग किया जाय जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है—जैसे ' दस अनार, छ पूरी, कुआं, चमड़ा'।

(१०) अप्राप्तकाल—किसी बात के साधन प्रमाण कहने का एक काल नियत है—जैसा अनुमान के अवयवों के प्रसंग में कह आये हैं—इस काल को छोड़ कर यदि वाक्यों का उलटा पलटा प्रयोग किया जाय। जैसे—'यहां आग है—जैसे रसोई घर में—क्योंकि यहां धूआं है—जहां धूआं है तहां आग है '।

(११) न्यून—अनुमान के पांच अवयव आवश्यक हैं—उनमें से यदि कोई छोड़ दिया जाय।

(१२) अधिक—एक अनुमान में एक ही हेतु और एक ही दृष्टांत आवश्यक और उचित है—यदि अनेक हेतु या दृष्टांत उपन्यस्त किये जाय तो वहां अधिक हुआ।

(१३) पुनरुक्त—जो बात एक बार कह दिया है—या जो कहा है उसी से सूचित हो गया—उसको यदि फिरसे विना कोई खास मतलब के कहे।

(१४) अननुभाषण—वादी ने तीन बार समझा कर कहा, सभा के और लोगों ने उस बातको समझ भी लिया—तिस पर भी यदि प्रतिवादी उसको समझ कर उसका अनुवाद न कर सकें तो उसका 'अननुभाषण' रूप निग्रहस्थान होता है।

(१५) अज्ञान—वादी ने जो बात कहा उसका सभासदों ने समझ लिया—पर प्रतिवादी न समझ सका तो उसका 'अज्ञान' हुआ।

(१६) अप्रतिभा—वादी के पक्ष को समझ कर भी यदि उसका उत्तर मन में न आये तो 'अप्रतिभा' हुई।

(१७) विक्षेप—'मैं इस बात को सिद्ध करता हूं' ऐसी प्रतिज्ञा करने पर ज्योंही प्रतिवादी और सभासद लोग सुनने को तैय्यार हुये त्योंही यदि यह कह कर सरकजाय की—'मेरा काम का हर्ज हो रहा है अब मैं जाता हूं' तो उसका विक्षेप रूप पराजय हुआ।

(१८) मतानुज्ञा—वादी ने अपना सिद्धान्त कहा—प्रतिवादी ने उसमें दोष दिया—इस दोष का उद्धार अपने सिद्धान्त से नहीं करके उन्हीं दोषों को यदि प्रतिवादी के सिद्धान्त में लगावें तो उन दोषों का समाधान नहीं हो सकता यह स्वीकार सूचित होता है—इस से यह भी पराजय हुआ—क्योंकि अपने सिद्धान्तमें ये दोष हैं—यह स्वीकार हो जाता है।

(१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण—वादी पराजित हो गया पर प्रतिवादी यह न समझ सका और वह इस बात पर जोर न दे सका कि तुम पराजित हो गये तो यह एक प्रकार की हार प्रतिवादी ही की हुई।

(२०) निरनुयोज्यानुयोग- यथार्थ में वादी पराजित [illegible] तिसपर प्रतिवादी [illegible] तुम पराजित हुये तो [illegible] प्रतिवादी की [illegible] की हार [illegible]

(२१) अपसिद्धान्त—कि... एक सिद्धान्त का अवलम्बन करके विवाद आरम्भ किया—और फिर बीच में शास्त्रार्थ के जोश में आकर कुछ ऐसी बातें कह दे कि उस सिद्धान्त के विरुद्ध हैं—तो यह 'अपसिद्धान्त' रूप पराजय हुआ।

(२२) हेत्वाभास—अपने पक्ष के साधन में जो अनुमान कहे जाते हैं उनके हेतु यदि साधन दुष्ट पाये जाय—तो यह भी एक प्रकार का पराजय हुआ। हेत्वाभासों का विवरण अनुमान प्रकरण में हो चुका है।

इति ।